शे ष दा न

मौलिक कथा संग्रह

वीरेन्द्रकुमार

'आत्म परिणय' और 'मुक्तिदूत' के नमो कथाकार

वोरा ऐन्ड कंपनी पब्लिशर्स लिमिटेड

राउन्ड बिल्डिंग, कालबादेवी रोड, बम्बई, २

अनुक्रम

★ पृष्ठ

परिचय

'शेषदान' से पूर्व, वीरेन्द्र का पहला कहानी संग्रह 'आत्म परिणय' है। आरम्भिक लेखन-कालमें ही उसकी रुचिर प्रतिभा अपने स्वप्निल सम्मोहनों से कुशल साहित्यिकों का हृदय मोहित कर गई। उसकी लेखनी मे ऐसा मार्मिक निजस्व था जो ख्यातनाम कलाकारों के बीच भी अपना विरल व्यक्तित्व बना सका।

हिन्दी-कथा-साहित्यमें वह प्रेमचन्द जी का समय था। सबसे पहिले प्रेमचन्द जी की ही सदय दृष्टि वीरेन्द्रकी रचनाओं पर पड़ी। इसके बाद अन्य कहानी-लेखकों ने भी उसे अपनी आत्मीयता दी, जिनमे जैनेन्द्र जी प्रमुख हैं।

प्रेमचन्द जी ने सामाजिक सुधार की सतह पर अपनी कथा-कृतियाँ दी थीं। वे द्विवेदी-युगके कहानीकार और उपन्यासकार थे। जन साधारण की तरह नवीन कहानी-लेखकोंकी भी उनके प्रति आस्था थी, किन्तु अपनी रचनाओंमें नये लेखक प्रेमचन्द जी के प्रभाव से मुक्त थे। द्विवेदी-युगके बाद काव्य में रवीन्द्रनाथ और कहानीमें शरच्चन्द्र का प्रभाव पड़ा। फलत, कविता की तरह कहानी भी अनुभूति-प्रवण एव अतर्मुखी हो गई।

इसी परवर्ती कालके कहानी-लेखकों में वीरेंद्र भी है, किन्तु हिन्दीके नये कहानी साहित्यमें अपना विशिष्ट स्थान रखते हुए भी अभी तक वह विज्ञापन की दुनियासे अछूता है।

रवीन्द्रने जिस नारी-हृदय को अर्द्धस्वप्न और अर्द्धसत्य कहा है, 'आत्म परिणय' में वीरेन्द्र ने उसी नारी-हृदयका मर्मोद्घाटन किया था।

'आत्मपरिणय' की पात्रियाँ आत्मा की वे विकल बालिकाएँ हैं जो हृदय के भीतर बहते हुए कोमल से कोमल अदृश्य अश्रुओं में ही अपने आत्म-समर्पण को स्नेहार्द्र रखती हैं। बाहर उनका आत्मदान बिना किसी प्रतिदानकी प्रत्याशाके मौन है। यहीं नारी स्वप्न-निगूढ है, अवगुण्ठनवती है। उसका बाह्य अर्द्ध सत्य रूप अपनी ही वेदना के प्रति निर्मम है। इस मधुर छलना-मयी मर्म्मोज्ज्वल नारीके चरित्र-चित्रणमें वीरेन्द्र की बडी सुकोमल विदग्धता का परिचय मिलता है। उसकी लेखनी में सूक्ष्मतम सवेदनशीलता है।

'आत्म परिणय' की कुछ कहानियाँ अतुलनीय हैं, यथा, 'वह पत्थर', 'माँ कि प्रणयिनी?', 'सुहाग चुनडी के आँचल मे'। ये कहानियाँ विश्व-साहित्य के किसी भी कहानी-सग्रह की शोभा बढा सकती हैं। इन कहानियोमे शरद की सरलता और गीतिकाव्य की सरसता है। शुक्ति मे स्वाति रस की तरह कहानी में कवित्व के इस स्वाभाविक सयोगसे शरद की कहानी- कला और भी व्यजनात्मक हो गई है।

'आत्म परिणय' में वीरेन्द्रका कौमार्य्य था, 'शेषदान' की कहानियों में उसके परिणत वय का सामाजिक अनुभव भी है।

आत्म परिणय' में हार्दिक समस्या प्रधान थी, सामाजिक समस्या प्रच्छन्न थी। 'शेषदान' में दोनो ही समस्याएँ प्रत्यक्ष हैं।

हार्दिक समस्या मनोवैज्ञानिक है, सामाजिक समस्या आर्थिक। मनुष्य की सामाजिक समस्या भी मुख्यत हार्दिक ही है, किन्तु अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष में अर्थ ही प्रधान होकर मूल समस्या को ओझल किये हुए है।

इस सग्रह की कुछ कहानियो मे हृदय की एकान्त समस्या है, कुछ कहानियों में हृदयकी समस्या सामाजिक समस्यामें सश्लिष्ट हो गई है। सश्लिष्ट कहानियों मे पूँजीवाद की विकृतियाँ नग्न हो गई हैं। ऊपरी दृष्टिसे देखने पर ऐसा जान पडता है कि इन विकृतियों में लेखकने आर्थिक समस्या को अग्रसर किया है, किन्तु कहानियों के मर्ममे प्रवेश करने पर स्पष्ट हो जाता है कि वह इस सस्ते यथार्थ की ओर नहीं है। मूल विकृति तो मानवकी पाशव-अहवृत्ति है, पूँजीवाद में उसीका पुंजीकरण है। अतएव, समस्या

आर्थिक नहीं, मनोवैज्ञानिक है।

पहिली कहानी ('शेषदान') और आखिरी कहानी ('प्यार कि महार ?') में लेखक का यही मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण संकेत-गर्भित है।

पहिली कहानी मे अपने अवशिष्ट अहम् का विमर्जन ही शेष दान हो गया है। आखिरी कहानी में भी अहम से ऊपर उठकर सोऽहं मे विश्व प्रेम प्रतिफलित हुआ है। मनुष्य जब अपनी इकाई की संकुचित सीमा मिटाकर निःस्व हो जाता है, तभी वह समष्टिमे समाविष्ट होता है। अपने अस्तित्व का खण्डबोध पाखण्ड है, अशांतिका कारण है। बिना आत्म-विसर्जनके त्याग और प्रेम, प्रच्छन्न स्वार्थ का ही बचाव और पलायन है। मनुष्य इस प्रवचनासे मुक्त होकर ही जीवन की पूर्णता पाता है, इन दोनो कहानियो में यही सत्य अनुप्राणित हुआ है।

अन्तिम कहानी ('प्यार कि सहार ?') में इस संग्रहकी सम्पूर्ण कहानियोंका मर्मस्पन्दन है, केन्द्रविन्दु है। यह कहानी रूढ आदर्शवादी और यथार्थवादी प्रेक्षकोंको मौलिक दृष्टिसे देखने-समझनेका अवसर देती है। यह कहानी यथार्थपर रुकती नहीं आदर्शके प्रचलित ललित रूपों (ईश्वर, धर्म, स्वर्ग, मुक्ति) के छद्मावरणको स्वीकार नहीं करती, फिर भी बड़े ही स्वाभाविक ढंगसे पतिता-पुत्री रतनके प्रेम और आत्मदानके भीतरसे सत्य, शिव, सुन्दरको (आत्म-धर्मके स्वयसिद्ध मूल्योंको) जीवन्त कर देती है।

हमारे युगकी और सामन्तयुगीन जड सामाजिक परम्पराकी सार्वदेशीय विकृतियाँ इस कहानीमे ज्वलन्त रूपसे उभर आई हैं। पाप और पतनकी परम्परा कैसे चलती है, इसका भी इसमे मार्मिक और कलात्मक उद्घाटन हुआ है। जीवनकी घोरतम विभीषिकाओं में से रतन जैसी प्यारकी मूरत तैर कर तट पर आ गई है। वह कलंकिनी बाला अपने विश्वप्रेमकी पावन भूमिमे कुलवती शीलवन्तियोके शीशपर सुशोभित हो सकती है।

कहानीका नायक स्वयं एक बडे घरका लाड़ला है। उच्चवर्गके उस युवा ने अपने ही वर्गकी सड़ी हुई जडोमें मर्मान्तिक कुठाराघात किया है। इससे कहानी सुपुष्ट हो गई है। उधर रतन जिस वर्गके पापमेसे जन्मी है

और जिसके प्रति उसके मनमे सबसे अधिक प्रतिहिंसा और नफरत है, उसी वर्गके महलों और हवेलियोके बेटेको वह प्यार करने लगती है, उसके सौम्य व्यक्तित्वसे आकर्षित होकर। इससे यह बात साफ हो जाती है कि रतनकी प्रतिहिंसा और नफरत मनुष्यके प्रति नहीं, बर्बरताके प्रति है। वह वर्ग-सापेक्ष्य नहीं है। अपनी सारी नफरतके बाद भी वह सच्ची मनुष्यताको बरबस प्यार कर बैठती है। और यही वह प्यार है, जहाँसे सबसे बड़ी क्रान्ति अकुरित होती है। मुक्ति, आदर्श, स्वराज्य, क्रान्ति, व्यक्ति, समाज, प्रेम, त्याग, इत्यादिकी समस्याएँ इसीमेंसे सुलझकर सहज सुगम हो जाती हैं।

कहानीके चूड़ान्तमें रूपवती रतनका कुत्सित, कुरूप, जीवित कंकाल को प्यार करना प्रेमकी चरम कसौटी उपस्थित करता है। उसका प्रिय युवक जब इस सजीव शवको एक सुन्दर जीवनकी आहुति देते देख कर वर्जना करता है, तब वह कहती है—"मै ही कभी ऐसी हो जाऊ और तुम्हारा आलिंगन चाहूँ तो तुम क्या करोगे? क्या शव समझ कर ठेल जाओगे, या फिर दया करके दूर दूरसे सेवा करोगे? उसका कोई सगा नहीं, कुटुम्ब नहीं, समाज नहीं, धरम नहीं, अरे भगवान तक उसका नहीं है। सुखकी सेजोंमें लोटनेवाले यही कह कर सन्तोष कर लेते हैं—'अपने किये वह भोग रहा है, इसमे किसीका क्या बस है?' पर, इन्हीं धरमके ठेकेदारोंके पुण्य भोगमेंसे जनमा हूँ मै पापिन, इसीसे ऐसा कहकर मुझे सन्तोष नहीं हो सका।"

सहानुभूतिकी इसी ज्योतिर्निदशामें विश्व-प्राणका द्वार खुल पड़ता है। अहमूके न जाने कितने अन्ध स्तरोंको पार कर रूपवती रतन रह गई है कर्म-योगिनी नारी। नारी भी नहीं, केवल अन्तश्चेतना।

यद्यपि इस कहानीका कथानक युग और समाजकी आधारशिला पर स्थित है, किन्तु इसकी समस्या इसी परिधिमें समाप्त नहीं हो गई है। कहानीकी चरम परिणतिमें समस्या शरीर और आत्माके सघर्षकी आध्यात्मिक

अभिव्यञ्जना आ गई है। इस दृष्टिसे देखने पर पूरी कहानी एक प्रतीक रूपक जान पड़ती है। कहानीकी वस्तुवर्णना और सारी घटनाओंमें एक सांकेतिकता चुपचाप चल रही है। सांकेतिक लेखनकी दृष्टिसे तो इसमें नवीनता है ही, साथ ही इस कहानीका समस्यामूलक और आत्मयोगमूलक अन्त भी समूचे हिन्दी-कथा साहित्यमें अनूठा है।

शरीर और आत्माके संघर्षमें एक स्वस्थ प्रेम (निरामिष रोमांस) का उन्मेष वीरेन्द्रके दोनों कहानी संग्रहोंमें है। इस सुदीर्घ कहानी या लघु उपन्यासमें प्राणोंका वही विदेह-प्रणय और भी विशदतासे प्रस्फुटित हुआ है।

भाषामें स्थानीय रंगतसे स्वाभाविकता खिल पड़ी है। इसके प्रारम्भमें मालवेका वातावरण है और उत्तर-भागमें राजपूतानेकी बोली और वातावरण का रंग है। खड़ी बोलीमें ही राजपूतानेकी सहज बोलीकी लचक मचकसे लोच आ गया है।

सब मिलाकर यह कहानी आश्चर्यजनक रूपसे सफल हो गई है।

वीरेन्द्र भावनाका कलाकार है। वह प्राणितत्वकी उस शाश्वत भावनाका प्रेरक है जो सृष्टिके प्रजननका कारण और समाजकी रचनाका जीवन्त आधार है। यों कहें, वह उस आत्मद्रवका द्रावक है जिसके रस-संयोगसे कर्म्म मर्म-मधुर और जीवन सहज सुन्दर हो जाता है। 'सृष्टिका अनुरोध' में कलाकार का नैसर्गिक दृष्टि-विन्दु है। इसी दृष्टि विन्दुके कारण वह युग-पुरुष से भी वैतालिकके स्वरमें कहता है—' लोक-हृदयमें तो आदर्शकी प्रतिष्ठा भावनाकी भूमि पर ही हो सकेगी, फिर भावना और प्रेरणाकी महत्ताको आप कैसे अस्वीकार कर सकेंगे? आप आदर्श हैं, कठोर हिमाचल। पर, आपको पिघला कर लोक हृदयमें भरनेका काम कविकी वाणीसे ही हो सकेगा।"

सृष्टिकी सृजन-शक्ति नारी भी उस युग-पुरुषसे कहती है—"हम भावना पर जीनेवाली नारियाँ! तुम्हारे निकट कैसे इतनी बड़ी आत्मवञ्चना करूँ महाप्रभु! जाती हूँ देव, तुम्हारे चरणोंमें मेरे लिए स्थान कहाँ?"—

कलाकार युग पुरुषमें ही नहीं, सम्पूर्ण युग जीवनमे इसी नारी-हृदयकी माँग करता है। भावनाकी मूर्ति नारीमें ही कलाकारका वह आत्मद्रव है जिससे समाज सुषमित और उत्सर्गशील बनता है। नारी जिस भावनासे पुरुषको आत्मदान करती है, वही भावना यदि जनतामे भी जागृत हो जाय तो हमारी सामाजिकता वाह्य न रहकर आन्तरिक बन सकती है।

भावनाके कारण ही 'शेषदान' की इन कहानियोंकी परिणति भाव सत्यमें हुई है।

ये सभी कहानियाँ अन्तर्मुखी हैं, अतएव स्वभावत अन्तर्द्वन्द्व प्रधान हैं। अपेक्षाकृत बड़ी कहानियोंमे घटनाओं और पात्रोंका भी जमघट है, लेकिन उनमे भी मानव-हृदयका एकान्तिक सघर्ष है। आत्ममूलक समष्टिकी अभिव्यक्ति इन कहानियोमे है। अतएव, पात्र पात्रियाँ व्यक्ति न रहकर सामाजिक प्रतीक बन गये हैं। अन्तर्भूत लक्ष्यके कारण ये सभी कहानियाँ प्रतीक-कथाएँ हैं।

इन कहानियोंके कलेवरमे विविधता है। भाव-गीत, शब्दचित्र, कहानी, लोक कथा और व्यक्तिगत निबन्ध, इन सभी तरहकी लेखन-शैलियोका इसमें सकलन है।

अपनी विविधता मे भी ये कहानियाँ मूलत एक ही अन्त कथा है— कहीं बीज रूपमें, कहीं अर्द्ध मुकुलित रूपमें, कहीं पूर्ण विकसित रूपमे। साकेतिक मर्म-व्यञ्जनाके कारण काव्यका ध्वन्यात्मक गुण इन कहानियोमें है। कतिपय शीर्षकोंमें भी यह गुण निहित है, यथा, 'शेषदान'।

जहाँ केवल अतर्जगत का रहस्योदघाटन करना पड़ा है वहाँ कथानक सूक्ष्म हो गया है। यहीं पर कहानियाँ भावात्मक या रस प्रधान हैं। इन्हें हम गीत-कथा भी कह सकते हैं। भावात्मक कहानियोमे वाणी कम और संवेदन सजग है। इसीके अनुरूप वातावरण और उसकी परिणतिमें भी छायाभास है। 'हृदय की रीत' इसका सुन्दर उदाहरण है।

'वह चली गई' और 'अभिषेक' शीर्षक कहानियाँ तो 'आत्म परिणय' की याद दिला देती हैं।

जहाँ जीवन का निभृत अतस्तल तात्कालिक समस्याओं के धरातल पर भी उद्गत करना पड़ा है वहाँ कहानियाँ वस्तुकथा भी बन गई हैं, केवल अंतिम कहानी मे ही नही, बल्कि 'नग्न ज्वाला', 'जीवनका जुलूस', और 'बेबसी' में भी। इन कहानियो में युग-कथा तो है ही, युग-युग की व्यथा भी बोल रही है।

कुछ कहानियोंमें मनोवृत्त्यात्मक क्षणोंकी चुस्त ड्रॉइग है, जैसे, 'मारक कि तारक ?', 'अनन्तकी डायरीसे', 'कहाँसे आरम्भ करें ?'

'किसका नेतृत्व ?' में 'प्यार कि सहार ?' का राजनीतिक रूपान्तर है। वही समस्या-मूलक और आत्मयोगमूलक दृष्टिकोण इस भिन्न कथानकमें सक्षिप्त कहानीका चित्रपट पा गया है। दोनोंका निष्कर्ष एक-सा ही प्राण-ग्राही है—"मृत्युकी गोदमें जीवनका खेल खेलनेका यह साहस ही मुक्ति-पथकी साधना है।"—(पृष्ठ ८०)।

जीवनके सभी क्षेत्रोंमें वीरेन्द्रका दृष्टिकोण सचेतन है, उसमें यन्त्रवत् निर्जीव अन्धानुकरण नहीं। यद्यपि जन-साधारणसे भिन्न होकर वह किसी असाधारणताका दावा नहीं रखता, बल्कि जन-साधारणसे भी अधिक साधारण होकर लोकनाथकी तरह ही "सारी मानव-सुलभ दुर्बलताओंके प्रति अपनेको खुला छोड़ कर चल रहा है। हर दुर्बलताको अवसर है कि वह आये और उस पर अपना पजा बैठाये। आदर्शका कोई घिराव या बन्धन भी अपने आस-पास लेकर वह नहीं चलता। हाँ, उसके भीतर जो लौ है, उसके उजालेसे बचकर उसके जीवनमे कुछ भी नहीं गुजर सकता।" भीतरकी उसी रोशनीमें वीरेन्द्र वर्त्तमान राजनीतिक प्रयत्नोंको भी देखता है। उसका यह मन्तव्य द्रष्टव्य है—"वह (सब) अस्वस्थ प्रतिक्रियासे उपजी हुई क्षणिक उत्तेजना है, आवेश है .... ।"—(पृष्ठ १२८)।

'आत्म परिणय' के बाद 'शेष दान' में वीरेन्द्रका धरातल विस्तृत हो गया है और इस धरातल पर नारीका आत्मदान बलिदान बन गया है। उसका आत्मदान मधुर था, उसका बलिदान प्रखर है—"उसके पैरोंमें

सत्यानाश की ज्वालाएँ खेल रही हैं और उसके वक्ष पर प्यारकी अखंड ज्योत जल रही है।"—(पृष्ठ १८४)। 'इन सारे जन-आन्दोलनोंके अन्ध समुद्रों पर' उसीका व्यक्तित्व दीप्तिमान है, वही 'सबसे आगे मशाल लेकर चल रही है।'

× ×

वीरेन्द्र मध्यभारतका अप्रतिम कलाकार है। लेखन-कलाकी दो विशेषताएँ (भाषा और वर्णना) उसे अपने स्वाभाविक आवेग, प्रवेग, संवेग और संवेदनसे सुलभ हैं। उसकी भाषामें प्राणस्पर्शिता है, वर्णनमें सजीव चित्रकारिता। इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति सशक्त है। कथानक और चरित्र-चित्रणकी क्षमता भी उसे अपने श्रमिक और भावुक जीवनकी अनुभूति से अनायास उपलब्ध है।

उसका हृदय बहुत सुकुमार है, अपनी कृतियोंसे भी अधिक मनोहर है। युगके अनागत भविष्यके प्रकृतिस्थ युगकी वह अग्रिम प्रजा है। वातावरण और जीवन-संघर्षके भीतरसे गुजरते हुए भी उसकी कला-आत्मा अक्षुण्ण है। अपना अभीष्ट युग देखनेके लिए वह चिरञ्जीव हो।

काशी,
२२।३।४७

शान्तिप्रिय द्विवेदी

१

शेष दान

अभी पिछले हफ्ते की बात है। जूरी गाँवमें एक दण्डी साधु आया और जानकीके द्वार पर आकर उसने पुकारा, "भिक्षा देहि।"

दैवात् जानकी स्वय ही भिक्षा देने बाहर आई। साधुकी फैली हुई झोलीमें भिक्षा डाल कर क्षण-भर स्तब्ध उस साधुको ताकती रह गई। तदनंतर एकाएक मानो स्वप्नाविष्ट-सी पुकार उठी—"तुम...? तुम कौन हो?"

"माता, तुम्हारी जय हो तुम्हारा कल्याण हो।"

"यह क्या कह रहे हो तुम, साधु? क्या मुझे भ्रम हो रहा है, या मैं पागल हो गई हूँ! सच बताओ.. ।"

फिर वह भूली सी एक गहरी दृष्टिसे सामने सिर झुकाये चुप खड़े साधुके आरपार देख उठी।

"तुम...? नहीं, अब तुम मुझे धोखा न दे सकोगे!"

जानकी का गला भर आया। आगे उससे बोला न गया। वह साधुके पैरोंमें गिर पड़ी और खूब दृढतासे उस चरण-युगलको अपनी बाहुओंमें कस लिया।

वह दण्डी साधु वैसा ही निर्विकार खड़ा देखता रह गया। बात की-

बातमें आस-पास मोहल्लेके लोगोंकी भीड़ जमा हो गई। साधुने धीर गम्भीर पर भीने स्वरमें कहा, "माता, मुझे आज भव-बन्धनसे मुक्ति मिली। जाने की आज्ञा दो।"

लोगोंने उसे पहचान लिया। अन्दर-अन्दर मर्मर-फुस-फुस होने लगी। साधु वैसा ही अविस्मित और अचञ्चल था। लोगोंकी जिज्ञासाके उत्तरमें उसने केवल इतना ही कहा—"उस रात गार्हस्थ्यके दु ख-द्वन्द्वसे व्याकुल हो घरसे चला गया था। दो महीने लखनऊमें नौकरी की। पर मनकी आकुलता बढती ही गई। नौकरी किस लिये ? यात्रा पर चल पड़ा। हृषिकेश पहुँचा। वहाँ एकाएक गुरुके दर्शन हो गये। उनकी वाणीमें न्हाकर मनकी सारी आकुलता शान्त हो गई।

पर कभी-कभी उदास हो जाता! गुरुदेव मुझे देखकर चौकन्ने हो जाते कठोर अनुशासनकी दृष्टिसे मौन–मौन वे मुझसे प्रश्न कर उठते। मैं सिरसे पैर तक सिहर उठता, पर मेरी वाचा न फूटती।

एक दिन साझको मैं अकेला ही गगाके तट पर बैठा नदीकी धारामें उठते मिटते सध्याके चित्रोंको देख रहा था, कि अचानक पीछेसे आकर किसी ने मेरे माथे पर हाथ रख दिया। मैं चौंका और सिर ऊपर उठा कर देखा—गुरुदेव खड़े थे।

मेरा चेहरा देख कर बोले—"राम आँसू!"

वे मुझे 'राम' ही कह कर पुकारते हैं। अपने उद्वेगको मैंने थामना चाहा, पर वर्षोंकी साधनाकी कच्ची पाल एक क्षणमें टूट गई। भीतरका मोह उमड़ आया। मै फफक उठा। पूछने पर उत्तरमें केवल इतना ही कह पाया, "सब कुछ भूल सका हूँ देव, पर जानकीके आँसूभरे मुखकी वह अन्तिम दृष्टि नहीं भूल सका हूँ। .वह कसक उठती है। सोचता हू, उसने क्या अपराध किया था, जिसका दण्ड उसे दे आया हूँ मैं ? बस, यही गाठ मनमें रह गई है, देव!"

गुरुदेव कुछ देर चुप रह गये। फिर बोले, "राम, ससारमें जाओ और

जानकी की भिक्षा लेकर आओ । तभी तुम उसके ऋणसे मुक्त हो सकोगे और तभी भवसे मुक्ति पा सकोगे ।...जाओ, इसी क्षण जाओ !"

अपना सारा साहस समेट कर पहली बार मैंने गुरुसे वितर्क किया—'भगवन्, स्त्री ? वह तो मुक्ति मार्गकी बाधा है न ? वह कैसे मुक्तिके द्वारकी अर्गला खोल सकेगी ? वह तो स्वयं अर्गला...?"

"नहीं राम, तुम नहीं जानते । ये बंधन जिसने बांधे हैं, वही इन्हें खोल भी सकेगी । उसके ऋणसे उऋण हुए बिना मुक्ति नहीं है !—जाओ, उसकी भिक्षा पाओ ।"

कह कर साधुने पैरोंमे पड़ी जानकीसे कहा, "माता, तुम्हारी भिक्षा पाकर मेरे ऋणका भार उतर गया । अब मुझे अपने मुक्ति-पथ पर जाने की आज्ञा दो ।"

आँसुओंमें भीगी जानकीने एकाएक सिर उठाकर अनुनयकी दृष्टिसे साधु की ओर देखा । अरे, वह तो निपट बालकवत् खड़ा है और माँसे कुछ माग रहा है !

क्षणमात्रमें जानकी और-की-और हो गई, मानों नवजन्म हो गया । उसकी आँखोंमें अब अनुनय नहीं थी, आग्रह मनुहार नहीं थी, करुण याचना भी नहीं थी । थी केवल सनातन माता—शक्तिदात्री—दान .. उसका अशेष आत्मदान ।

लोग बेबूझ ताकते रह गये । सन्यासीको भिक्षा मिल चुकी थी । मुस्करा कर उसने जानकीको और सबको विनत प्रणाम किया ।

साधु अपने पथपर चला गया और उसने मुड़ कर नहीं देखा ।

गाँवमें लोगोंके आश्चर्यकी सीमा न थी, यह देख कर कि जानकीने न तो जाती बेर उसे रोका और न उसके पैर ही पकड़े ! आँसू उसकी आँखोंमें सूख चले थे । ओठोंपर हल्की-सी मुस्कराहट थी । साधुकी पीठ जब ओझल हो गई, तो वह धीरे-धीरे अपने घरमें चली गई ।

* * *

साधुने गाँवके बाहर, नदी तटके एक बट वृक्षके नीचे आसन जमाया ।

सम्बन्धी और अन्य ग्राम-जनोंने जा-जा कर बहुत आग्रह-अनुनय की कि वह अपने घर लौट आये, पर साधु मौन रहता और हँस देता। यही था उसका उत्तर। दूर-दूरके गाँवोंसे लोग दर्शनको आने लगे। साधु वैसा ही प्रतिमा-योगसे एकासन बैठा था। ओठों पर उसके एक निर्विकल्प मुस्कान थी, पर एक सूक्ष्म करुणा उसमें झलक जाती।

एक, दो, तीन, चार दिन बीत गये।

* *

सरदीकी रातका अन्तिम प्रहर। घना कुहरा चारों ओर व्याप्त है। सहसा साधुको दूर पर दीखा, ग्राम-प्रान्तरकी ओरसे कुहरा चीर कर एक आकृति आ रही है। कुछ दूर पर आकर वह ठिठक गई। एक वात्सल्य-करुणा कण्ठ स्वर सुनाई पड़ा, "क्यों अटके हो? जाओ। मुझपर विश्वास रखना। तुम बेखटके जाओ।"

साधुका प्रतिमायोग टूटा। पास जाकर उसने विह्वल हो माथा उस आकृतिके पैरोंमें रख दिया।

पर उठ कर पाया कि वहाँ आकृति कोई नहीं थी। था केवल कुहरेका धूमिल प्रसार—एक-रस—शून्य, घनीभूत और अपार ...

सन्यासी चल दिया अपने पथ पर—निर्द्वन्द्व।

* * *

पाँचवे दिन सवेरे लोगोंने पाया कि नदी-तीरके वट-वृक्षका तल-देश शून्य पड़ा है। केवल वहाँ दर्शनार्थियोंके चढ़ाये हुए कुछ पूजार्घ्य बिखरे हैं, या कुछ बुझे हुए मिट्टीके दिये।

पर जूदीके ग्राम-जनोंमें एक ही बात बड़े आश्चर्यसे बार-बार कही-सुनी जा रही थी कि चार दिन तक इतने नर-नारियोंकी भीड़ साधुके दर्शनको उमड़ी, पर उसमें जानकी कमी न दिखाई पड़ी!

★

२

नग्न ज्वाला

[१]

जीवन

अब एक वर्ष हो आया, नीलमणि इस कपड़ेके मिलमें नौकरी कर रहा है। यों नीलमणि एक सम्भ्रान्त सम्पन्न जमींदार कुलका लड़का है। माँ उसे दो वर्षका छोड़कर मर गयी थी, पीछेसे पिताने अपनी इकलौती सन्तानको आँखोंमें पाला और पलकोंमें दुलराया। विपुलता, सुखैश्वर्य, पानों-फूलोंमें पले नीलमणिने अभावका अनुभव नहीं किया था, पर उस सद्भावमें वह पूर्णत लिप्त भी नहीं हो सका था। जरूरतमन्द और अभाव पीड़ितको देखकर बचपनसे ही उसका मन अपने अति सुख-सद्भावके प्रति घृणा और विरक्तिसे आकण्ठ भर उठता था, वह अपनेको अपराधी पाने लगता था। अभी साल भर हुआ, जब वह एम ए फाइनलमें था, पिताकी भी अकस्मात मृत्यु हो गयी। अब वही अकेला अपनी जमींदारी स्टेट, विपुल धन-सम्पदाका स्वामी था। एक बुआ और फूफाकी देख रेखमें जमींदारी चलती थी।

कलकत्ता युनिवर्सिटीसे फिलॉसफीमें एम ए करके जब वह घर लौटा तो 'आत्म-वाद और अनात्म-वाद' पर थीसस लिखकर डॉक्ट्रेट लेनेका स्वप्न उसके मनमें बसा हुआ था। पर उधर उसके जीवन-सम्बन्धी विद्रोही विचार

सक्रिय सचेष्ट होकर उसके मन और मस्तिष्कको मथ रहे थे। अपने ज्ञानका नियमन और परीक्षा अब और उसे न रुचे। युनिवर्सिटीकी डॉक्ट्रेटका स्वप्न उसकी कर्मोन्मुख विचारोत्क्रान्तिमें फीका पड़ गया। घरकी सम्पन्नता और सद्भाव-जनित अकर्मण्यता, लोहेकी भारी भारी बेड़ियोंकी तरह उसे दु सह हो उठी। अपनी आत्माके आगे वह अपनेको अपराधी और पराधीन पाने लगा।

एक दिन सबेरे, अपने फूफा और बुआसे अनिश्चित दीर्घकालके लिए छुट्टी लेकर, वह साधारण मार्ग-व्यय, तथा कुछ नितान्त आवश्यक सामान लेकर घरसे प्रवास पर निकल पड़ा। हाँ, उसे अपने अस्तित्वकी स्वाधीनताकी खोज थी। दूसरोंके खून-पसीनेसे अर्जित रोटियाँ उसे असह्य थीं। तत्व-ज्ञानकी निरी बौद्धिक अभ्याशीसे उसे नफरत थी, वह दर्शनके द्वारा जीवनका सच्चा अर्थ समझना चाहता था। संघर्षोंकी चट्टानोंके बीचसे गुजरते हुए जीवनकी करारी धारामे वह जीवनके सत्यकी अनुभूति पाना चाहता था। घरसे निकलकर कुछ समय इधर-उधर भटकनेके बाद, वह अनायास ही इस कपड़ेके मिलमें चला आया। सहज जिज्ञासा-भावसे, बिना अपना विशेष परिचय दिये, बड़ी ही विनम्र बुद्धिसे उसने यह साधारण-सी नौकरी स्वीकार कर ली। क्योंकि बड़ी तनख्वाह और बड़े ओहदेकी महत्वाकाक्षा उसके जीवनका माप न थी।

जबसे मिलमें नौकरी मिली है, नीलमणि मिलके योरोपियन, टेकनीकल सुपरिन्टेण्डेण्ट मि० एलीसनका पर्सनल-क्लर्क है। साहब जब मिलके खातोंमें राउण्डपर जाता है, तो कई बार नीलमणि भी अवसर पाकर उसके साथ हो लेता है। ऑफिसमें लौटकर थोड़ी-सी दैनिक एण्ट्रीज, रिपोर्ट, खातों के अफ़सरोंके नाम मेमों, चिट्ठी-पत्री वगैरहका काम उसे करना पड़ता है।

मिलके पश्चिमी किनारे, कुछ अनादृत बेलोंसे छाये बॉसके फेन्सिगसे घिरा, तिकोनी छतवाला, फाख्तई रंगसे पुता एक केबिन दिखाई पड़ता है। वही है मिल सुप्रिण्टेण्डेण्ट मि० एलीसनका ऑफिस। चार-पाँच दिनसे केबिनके भीतरी भागमें दीवारों, छतों, तथा खिड़की-दरवाजोंपर रंग-रोगन हो रहा है। इसीसे ऑफिस बाहर खुले आसमानके नीचे लगता है। नीलमणि आज-

कल साहबके साथ खातोंमें नहीं जाता। उसे आज्ञा है कि वह वहीं बैठकर देख भाल रखे कि ये कामगार हरामखोरी तो नहीं कर रहे हैं और अपने काममें ईमानदारीसे लगे हैं ? नीलमणिका मन सहज विद्रोही होकर भीतर ही भीतर सोच उठता 'जैसे नैतिकताके ठेकेदार उच्चवर्गने दुनियाकी सारी सचाई और ईमानदारीका ठेका ले लिया है और अब इन सेवकवर्गके गरीबोंके लिए सत्य और ईमान बाकी ही नहीं बचे हैं कि वे भी सच्चे हो सकें। जैसे इन समर्थोंने ४, ८, १२ आने रोज़पर उनकी आत्माएँ खरीद रखी हैं, सो इन समर्थोंकी निगह-दारीके बिना उन गरीबोंको सच्चे और ईमानदार होनेका अधिकार ही नहीं है। हम उन्हे भूखो मार कर, उन्हें झूठ और बेई-मानी सिखाकर, उनके सत्य और ईमानदारीकी परीक्षा करना चाहते हैं ? ओफ् घृणित, कायर, पामर, जालिम मनुष्य ! मनुष्यकी आत्माका ऐसा अप-मान नीलमणिसे न हो सकेगा। वह उनके जीवनमें घुलकर, एकरस होकर उनके साथ जियेगा।

फेन्सिगके बाहर, सडकपर रुई और कोयलेकी गाडियो तथा कपड़ेकी गाठोंसे लदी लॉरियोके जाने-आनेसे दिनभर धूल उडती रहती है। कोयलेसे मिली बहुत-सी काली-काली धूल, उसकी मेज़के कागजो-किताबोपर जमा हो गई है। फेन्सिगपर छायी अरक्षित बेलोंकी हरीतिमा भी इस धूलसे आच्छन्न है। बहुत सा परित्यक्त कूड़ा-करकट—मोटरोके फटे ट्यूब-टायर, टाटोंमें बधे रुईके नमूनोका ढेर, पुराने मेग्जीनोंका स्तूप, तारोंमें नत्थीकी हुई फाइलें, डम्मरो से पुती नम्बरोवाली बाल्टियाँ, बिखरी हुई सूतकी बॉबीने, कपडोंकी डिज़ा-इन बुकें, पुर्ज़ोंके नमूने वगैरह बेहिसाब अटाला धूलमे सना हुआ चारों ओर फैला है। मशीनोंकी अविश्रान्त धड़धड़ाहट, नीले शरदाकाशके उजले बादल बालोंको ढँकते भोंगेके धुएँके गाढ़े-गाढे बादल, मशीनो और तेलोकी वही चिर परिचित गन्ध—इन सबमें आज नीलमणिका मन-प्राण रुद्ध हो गया है। एक अजीब आत्मग्लानि से उसका मन वितृष्णा-व्याकुल है। जाने कैसी जीवनकी व्यर्थताको वह अनुभव कर रहा था। मानो अपनी आत्माकी चिन्तन-धारासे दूर, आज वह आस-पासके जीवनके घने जंगलमें भटककर रास्ता भूल गया था। हाँ, आज अपने आत्म-द्वीपमें वह नहीं लौट सका।

वह सोच रहा है—क्या वह भी ठीक उसी तरह मिलकी मशीनोंका पुर्जा नहीं है—जिस तरह ये भीतर काम करनेवाले प्राणी। यों उसके पास साहबोंकी सहीके लिए कागज लेकर आनेवाले मजदूरोंसे वह समय-समयपर कई बातें पूछता रहा है—उनके जीवनकी बारीकीसे जानकारी प्राप्त करता रहा है, उनके साथ बड़ी सहानुभूति, हार्दिकता और निकटताका व्यवहार उसने किया है। जब वे अपने गाढे पसीनेके बल जीती हुई मजदूरीके कुछ ठीकरों के लिए याचककी तरह दीन भावसे, अपने बिलपासपर कई 'साहबों' के दस्तखतोंके लिए टोले खाते रहते हैं, तो मनुष्यताके ऐसे पतन और निरादर पर उसे तरस आया है—और उनकी लाचारीपर गुस्सा भी आया है। "उफ्, ये अपने गाढे खूनकी कीमत माँगनेमें डरते हैं, काँपते हैं, घिघियाते हैं, मोहताजी लाचारी दिखाते हैं और भीखकी तरह माँगते है ? अरे मनुष्य जीवन माँगकर जीता है ? उसे जीनेकी स्वतत्रता नहीं है ? उसकी सत्ता पूँजीके हाथों बिकी हुई है ?" पर उनकी जिन्दगीका हिसाब-किताब लगाने वह कभी नहीं बैठा। क्योंकि वह जानता है कि वह व्यर्थ होगा। अर्थ-शास्त्रीय आँकडोंसे उसे अपने मेटाफिजिक्सकी कार्य-कारण परम्परा पर ज्यादा विश्वास है। अपनी उस कठिन मर्यादाको तोड़कर वह भटका नहीं है। पर आज उसके मनमें अपने स्वयम्के प्रति, खामख्वाह यह दोषारोपण उठ रहा है, कि क्यों वह इनसे बेसरोकार है—इन भीतर काम कर रहे प्राणियोंसे। उनके बीच अपनेको पाने, की जीवन-साँकलमें जुड़ गुथकर, उनके भीतर की दुःखधाराको अपनी जीवन-धारासे मिलाकर, अखण्ड विश्व-जीवनकी अनुभूति पानेको उसमें आज जाने कैसा वेगवान तकाजा है।

बूढ़ा गफूर चाचा, जमना, वह अधेड मारवाडिन और वे दो-तीन नौजवान मुसलमान लडके अलग-अलग खातोंसे आकर वहाँ काम करने लगे हैं। मिलके विभिन्न विभागोंमें धुलाई पुताई, रंग-रोगन करनेके लिए यह बैच तैयार किया गया है। कई जगह काम करते-करते अब वे इस केबिनपर आये हैं। नीलमणि आज अपनेको उस ओर उन्मुख होनेसे रोक न सका। सबेरेसे देखता रहा वह, उनकी कार्य-प्रणाली, आपसी बात-चीत, बोल-चाल, आचार-व्य-

व्यहारका निरीक्षण कर रहा था। उनकी सारी क्रिया-चेष्टाओंके आकलन और अनुभूतिमें एकोन्मुख होकर तल्लीन था। उनकी बातों ही के सिलसिलेमें मज़दूर जीवनकी फिल्म-सी उसके सामने खिंचती चली जा रही थी।

बीच में बारह बजे राउन्ड से लौटकर साहब आया—मामूली सरसरी हिदायतें देकर चला गया—जो नीलमणि के कानोंसे टकरा कर वापस साहब के पास लौट गयी। नीलमणि बेइख्तियार घुल रहा था। जाने कब मिल बन्द हो गया, साहब चला गया—जाते-जाते उसकी सिगरेट का नीला धुँआ भर उसे याद है। हाँ, वह तो डूबा हुआ था—वह बोध पाना चाहता था।

सबेरे से ही जमना की कुटिल हास-परिहास-भरी अट्टहासिक हँसी, फड़कती तलवार-सी वे चञ्चल आँखें, एक अजीब खुला अल्हड़पन और एक अनोखे मायावी खिलवाड़ ने एक इन्द्रजाल-सा रच रखा था। मानों वे आस-पास काम कर रहे सब आदमी उसकी शतरंज की मोहरें थीं और वह खिलाड़िन जिधर चाहती उन्हें चलाती। बूढे गफ़ूर चाचा भी बेचारे एक प्याद बने,अपने हड्डी के ढाँचे पर बची-खुची माँस-मज्जा में लड़खड़ा रहे थे। सब अपनी-अपनी नसैनियों पर चढे छतके अलग अलग हिस्से पोत रहे थे। नीचे खड़ी वह अधेड़ मारवाड़िन मोहताज पालतू जानवर की तरह, चुपचाप खड़ी दीवार खुरच रहीं थी। और बीच की बड़ी नसैंनी के बीच की सीढी पर टिकी हुई जमना रगनेवालों के लिए दोनों हाथों में सफेदे के टिन फैलाये, हाथ डुला कर, कमर लचका कर, अपनी आँखों की पुतली पर डोरी बाँधे इन सारे आदमीयों को उस कमरे की छत में पतगों की तरह उड़ा रही थी— झोले-झोके दे रही थी। कभी ढील देती, कभी झटका, कभी आहिस्तासे पास खींच लेती और फिर अचानक ढकेल देती। और कभी उमंग उठती तो सब पतंगोंमें पेंच करा देती। उसके खिलौनेकी वे पतंगें कट-कट मरतीं और इस कौतुकमें उसे बड़ा क्रूर मज़ा आता। वह ताली बजा बजा कर खूब जोरसे खिल-खिलाती और ऐसी स्वेच्छाचारितासे खेल रही थी वह खिलाड़िन, कि किसी भी क्षण जब उसके मनमें उमंग उठी, वह किसी भी पतगको पास खींच कर फाड़ डालेगी, उसकी तीर-कमानको तोड़-ताड़ कर फेंक देगी और उसके टुकड़ोंको फेंक-

फाँक कर खुशीसे नाचने लगेगी।

नीलमणिके देखते-देखते खेल डिस्पर्स हो गया। तब सहसा ही उसने सन्नाटा अनुभव किया। उसे मालूम हुआ कि मिल बन्द हो गया है। गफूर चाचा, वे नौजवान मुसलमान, वह बूढ़ी मारवाड़िन, सब धीरे-धीरे एक-एक करके अपने रास्ते लगे। और सबके बाद मन ही मन एक अजीब व्यंग कटु खुशीसे भरी, हँसती-डोलती जमना मुड़ कर एक तीखी दृष्टि नीलमणि पर डाल कर चली गयी। जैसे अमावसकी रातकी घुमड़ती घटाओंमें बिजली कौंध उठी हो।

नीलमणि अनायास ही विरक्तिसे भर उठा। एक विचित्र कुण्ठामें उसका सारा प्राण अवसन्न हो गया। उसके मन पर एक नील-कुहरिल रहस्यका अन्धकार घना होने लगा। उसने अपने चित्तको विशृंखल तथा उखड़ा हुआ पाया। मानों उसकी चिन्तन धारा भंग हुई, कहीं टकराई, उसका तरगस्फोट हुआ। एक निश्चेष्ट आलससे वह जड़ हो गया। अभासी भरते हुए वह मिलके चाय-घरकी ओर चला। मिलका शिष्ट क्लर्कसमाज, जब पतरेके टिनशेडमें बिछी बेंचोंपर बैठ कर स्पेशल दाम चुका कर, 'स्पे-शल चाय पीता है और अपने उच्च वर्गके गौरवकी रक्षा करता है, तब नीलमणि मजदूरोंकी खिड़की पर खड़े होकर, मज़दूरोंकी ही चाय माँगता है और उसी जगी हॉलमें सैकड़ों मज़दूरोंके बीच खड़े होकर पीता है।

चाय पीकर एक अजीब पीनकमें, मज़दूरोंके जीर्ण-जर्जर, विकल-त्रस्त चेहरोंको ताकता हुआ वह अपने कैबिनको लौटा। लौटते हुए उसने दूरसे ही देखा, बूढ़ा गफूर चाचा रोटीकी पोटली हाथमें लिये, डाढ़ी खुजलाता, बौखली हँसी हँसता कैबिनमें प्रवेश कर रहा था—निमन्त्रण देते हुए—

"हीं हीं हीं ·· · जमना, तुम रोटी नहीं खाओगी?"

पीछेसे जमना अपने दोनों हाथ सिरके पीछे गूँथे—इठलाती सी आगे बढ़ गयी कमरेमें—

"हूँ रोटी! ····· न चाचा अब रोटीका मोह इतना नहीं रहा—मालूम होता है अब तो बिना रोटीके भी जी सकती हूँ—इतनी तबियत भर

गयी है रोटीसे—उफ् ।" कह कर फिर उसने अपनी आत्माका सारा दैन्य बिखेरते हुए एक भूखी हँसी हँस दी, खूब अल्हड़, लापरवाह, मिस्सी और पानसे अधसड़े अपने काले दाँतोंको दिखाते हुए । दर्दसे लबरेज बूढ़े गफूरकी जिन्दगीका प्याला आज खामख्वाह बेकाबू होकर छलक पड़ा । एक मीठे-मीठे स्वरमें कातर भावसे गफूर बोल उठा—

"जमना, अकेले खाते-खाते जिन्दगी काट दी, खानेका शरीक और दुःखका शरीक जिन्दगीमें कोई नहीं आया । •• हूँ••••• आज लगता है जैसे अकेले खाना मुझसे खाया न जायगा । एक अजीब भारीपन आ गया है दिल पर । अरे हाँ जमना, वाह ! ये कैसे होगा कि तू बैठी रहे सामने ताकती, और मैं खाना खाऊँ ? तोबा, तोबा, जरा आ तू भी बटा ले थोड़ा-सा खाना, तो दिलको तसल्ली होगी ।"

बड़े जोरसे ठहाका मार कर जमना हँसी और आँखों पर जैसे एक करारी कटारने करवट बदली—"हूँ तसल्ली । तसल्ली चाहिए चाचा, बड़ी मोहब्बत जता रहे हो चाचा ! और वो तुम्हारी घरवाली, कहाँ है—चाची ?—वो तुम्हारे सुख-दुःखमें साथ देनेवाली ?"

कहती-कहती जमना फिर शरारती आँखें मटका कर खूब जोरसे हँसी । बूढ़े गफूर चाचाके दिल पर जैसे मार्मान्तिक चोट हुई । जीवनके सबसे बड़े दुःखका भार एक गहरी निश्वास पर उतारते हुए वे बोले—

"ही ही तुम बीबीकी बात करती हो ••नहीं जमना, इस कम्बख्त गफूरको जिन्दगीमें बीबी नसीब नहीं हुई । तभी तो कह रहा था कि खाने, सोने और दुःखका शरीक जिंदगीमें कोई नहीं आया । इन्तजार करते-करते ये आँखें बूढ़ी हो गयी और इसी इन्तजारमें कभी फटी रह जायँगी ••• समझी जमना • ही ही •••मगर तुम जबसे आयी हो ••तो तो यानी मैं यह कह रहा था कि तुम जबसे आयी हो तो मालूम होता है कि जिन्दगीमें शरीक होने कोई आया—तो खामख्वाह यह ललक पैदा हुई के तुम मेरे साथ खाना खाओ तो कितना अच्छा हो । ज़िदगीमें पहली बार मेरा खाना और किसीका भी हो ।"

कहते-कहते गफूर कातर, प्रार्थी, दैन्यभरी आँखोंसे जमनाकी ओर देख उठा ।

जमनाका चोटें खा-खा कर पत्थर हो गया हृदय आज सहसा ही हिल गया- बूढे गफूरकी आँखे देखकर। उसके हृदयके, जम कर बरफ हो गये खूनमें कुछ उष्णता आ गयी—हलकी-सी दरार पड गयी। बूढे गफूर पर उसे दया आ गयी, जीवनमें पहली बार उसमें किसीके लिये हमदर्दी पैदा हुई। क्या दे सकती है वह गफूरको ?—उसके पास क्या है ? जीवन ? काश वह दे सकती ! पर आज उसे अपनी कंगालियतका भान हुआ। क्या वह इतनी हीन—इतनी असमर्थ है कि हमदर्दी भी नहीं दिखा सकती ? जीवन-दानका पवित्र कुकुम-पर्व उसके जीवनमें नही आया। पर उस दिनका इन्तजार ही दुनियाने उसे कब करने दिया। इसके पहले कि वह अपनेको दे सके, वह खरीदली गयी—उसका सर्वस्व बिक गया। आत्मदानका अधिकार उसे नहीं था—वह तो बिकने ही को पैदा हुई थी। जीवनके बाजारमें वह तो सदा बेची-खरीदी गयी। पवित्र स्नेहका आत्मोत्सर्ग उसने जाना ही नहीं। उसका जीवन, यौवन, रूप, सौन्दर्य, इच्छा-आकाक्षाऍ, उमगें-भावनाएँ, उसका हृदय, अरे उसकी आत्मा–सभी कुछ तो मॉसके बाजारमें खुले थालों पर सज कर बिक्ते रहे !

उस साल कॉलराका दुर्दमनीय प्रकोप हुआ। एक-एक दिनमें हजार-हजार लाशे होती थीं। गरीबोंके मोहल्ले सबेरे लाशोंसे पटे मिलते। एक ही रातमें जमनाके मा-बाप, भयकर गरीबीसे पीड़ित, लाचार, कॉलराके भोग हुए। सवेरे जब कोठरी खोली गयी तो उन दो मृत-देहों के साथ, दुर्गन्धि से भरे मल-मूत्र, श्लेष्म में एक साल भर की अनाथ बच्ची मिली ! भगवान्‌का विलास नहीं तो नियतिका क्रूर खिलवाड ही कहिए इसे कि मृत्युके मुँहमें लेटी हुई वह बचा ली गई। कुछ दिन वह बच्ची पुलिसके सरक्षणमें रही और उसके बाद किसी मजदूरकी स्त्रीने उसे मॉंग लिया कि वह पाले- पोसेगी। जिस मजदूरिनने उसे पाला, उसने बादमें सालके साल बच्चे बढाये। जब उन्हींके लिए रोटियाँ न थीं तो अनाथ जमनाकी बात कौन पूछता। सड़कके पत्थरकी तरह लुढकती ठोकरें खाती, दुनियाके पैरों तले कुचलाती वह बड़ी हुई। बरस भागते चले। तेरहवॉं बरस उतर गया—चौदहवॉं दरवाजे पर

आ खड़ा हुआ। गरीबीमें यौवन जल्दी आता है—और दुश्मन बनकर आता है। और फिर उस अनाथाने तो रूप पाया था—वही उसकी गरीबीका सबसे बड़ा अपराध था। हिंस्र पशुओंसे घिरे जंगलमें, अरक्षित भूली-भटकी सी सरला जमना, भयभीता मृग-शावकी सी घूमती। चारों ओर जाल बिछे थे, घातें लगी थीं। उधर पेटकी आग चैन नहीं लेने देती। वह किसी तरह जूठे टुकड़े खाकर बुझ पाती, तो यह जगत्की आग उस अनाथाके सिरपर शोले बरसा रही थी। निर्दोषिताके दिन निकले, सोलहवाँ बरस। हिरनीकी भोली आँखोंमें भयमें मिश्रित कौतूहल, प्यास, छलना दिखाई दी! जगत्की खूँख्वार आँखोंकी माँगका अर्थ समझमें आया, और वह समझमें आया सबसे पहले रोटीकेरूपमें—फिर रुपयेके रूपमें। रोटीके बाद रोटीके साधन रुपयेको उसने प्यार भरी आँखोंसे देखा। पेटकी ज्वालाएँ विकराल खुशीसे भरकर हँस उठीं, बोलीं—लाओ! लाओ! जमनाको आखिर उपाय मिल गया, पेटकी आग बुझानेके लिए सृष्टिकी आग पीना उसका जीवन-धर्म हो गया—आजीविका हो गयी! दो-चार बार डरी सहमी, भागी-दौड़ी-जान बचाती फिरी। आखिर एक रात—एक अँधेरी बरसातकी भयावनी झिंग़ियोंकी रात, बादल गरज रहे थे—बिजलियाँ कड़क रहीं थीं, प्रचण्ड आँधी चल रही थी। और खपरैलोंकी उस अँधेरी दालानमें जमना भूखी बाहर लेटी थी। ऐसी सर्व-नाशिनी भूख उसे लगी थी, मानो वह खुद अपने ही को खा जायगी!

पड़ौसका वह छैला कई दिनोंसे उस पर आँख गड़ाये था। बिजलीकी लकीरने जब आसमानका हृदय चीरा, तब वह दिखाई पड़ा अचानक। कम्बल ओढ़े, छाता लिए प्रतीक्षातुर खड़ा था। जमना फटी आँखों और धड़कते हृदयसे सहमी-सी देखती रह गयी। आगन्तुक नौजवानने बीड़ी जलायी, दियासलाईकी लौ में एक गोल-गोल सफेद-सफेद चाँदीका रुपया चमका, एक आँखकी बुलाहटका इशारा, भूखी-प्यासी जमनाके पेटकी आँचने बढ़कर उसके मनकी कोमल कौमार्य-मर्यादाको नष्टकर दिया। वह दौड़ पड़ी लाचार होकर अपने पेटकी भूख बुझानेके लिए जगत्की भूख बुझाने—उसने कौन-सा अप-राध किया?

उस रात वह आन्धी उसे बहा ले गयी। फिर तो वह उड़ती ही फिरी जगत्‌के यौवनके तूफानी बवण्डरमें। दुनियाकी ठोकरों और गटरों से उद्धार करनेवाला उसे कोई न मिला। जगत्‌की सारी झूठें, सारे छल-प्रपञ्च, सारे मायाजालों और दम्भोंसे उसका साबिका पड़ा। सहस्रों रंग-बिरंगे, लुभावाने रूप धारण कर जगतने उसके जीवनके साथ मनमाना खिलवाड़ किया, रौंदा–खदेड़ा, नोचा, उसकी बोटी-बोटीसे अपने दाम वसूल किये, और चल दिया उसी गटरमें फेंक कर। भगवान्‌की लीलाको क्या कहिए, उसे तो 'विचित्र' कह कर सदा उसके भक्तोंने स्वीकार किया है। चुसते हुए, दिन-दिन पीले पड़ते शरीरके साथ, उसकी आँखोंका जहर बढ़ता गया। वे और भी काली-कजरारी होती गयीं। हिंसाकी मोहिनी अमोघ होती है! गाँवका पशु जब रात-रात भर उसके घरके किवाड़ोंपर पछाड़े खाने लगा, तो आखिर उसे खुली दूकान लगानेको विवश होना पड़ा। उसने द्वार खोलकर दिया जला दिया—जो चाहे सो आवे—यह दूकान है। गाँवके नौजवानोंमें कशमकश मची, दाँव-घात चले, भीतर ही भीतर मारा-मारी और खींचा तानी हुई। सेठ-साहूकारोंकी पगड़ियोंकी इज्जत खतरेमें पड़ गई, और आखिर एक दिन सेठ और ठाकुरके लड़केमें छुरेबाजी होगई। गाँवके चौधरियोंने कहा—यह जमना है पापका मूल, इसको निकालकर फेंकना होगा, तभी शान्ति होगी। एक रात मार-पीटकर लहू-लुहान कर उसे निकाल दिया गया।

रास्तेके किनारे पड़े-पड़े उसने आँखे खोली—उफ वही हत्यारी आँखें! चलते-चलते मुसाफिर ठहर गया। रात ठहरा-दो रात ठहरा, जमनाके लिए खाना-दाना जुटाया, मरहमपट्टीकी, दस रात टिका और फिर पड़ौसके किसी गाँवके मोहल्लेमे घर ले लिया। जमनाको रानी बनाया। नयी छींटकी ओढनी, गोटेकी गुलाबी चोली, भारी भारी लहँगा, पैरमें तोड़े और पायल, हाथमें हीरेवाली लाखकी चूड़ियाँ, नाकमें काँटा, दाँतोंपर मिस्सी और मुँहमें पान। मस्तानी मद-भर चाल और बेइख्तियार बिखरता यौवन। आस-पासके जवान भेड़िये घात लगाये बैठे रहते। जमना अपने नये स्वामीकी ब्याही बहू होनेका गर्व अनुभव करती। आँखकी नजरको सटकमें गड़ाकर निकलती। चाहा, वह इस प्रियतमकी सच्ची होकर रहेगी। वह उसे प्यार करता है, उसके लिए

मिठाई लाता है। नई-नई चोलियाँ और फूल-माला पहिनाता है। बालोंमें लगानेको सुगंधित तेल और भालमें लगानेको रंग-विरंगी सुनहरी बिंदियोंकी डिबिया लाता है। सचमुच वह उसका जन्म-जन्मान्तरोंका स्वामी उसे मिल गया है। अब सपनेमें भी वह दूसरेकी बात न सोचेगी। उधर उस आवारा नौजवानकी तबियत भर गई, आँखका नशा उतर गया। खुमारके उतारमें जमना फीकी पड़ गयी, उसे नफ़रत हो गयी। जमनाकी वही बाहें जिनमें सोकर उसने अपने यौवनकी सुनहरी रातें गुज़ारी थीं, उसके गलेकी फाँसी हो गयीं। एक रात उसने उस पर अभियोग लगाया—"कल रातको उठ कर कहाँ गयी थी—?" जमनाने कहा, " जल्दी उठकर पड़ौसमें पीसने गयी थी।"

"झूठ—मुझसे झूठ! गयी थी दूसरा खसम करने और चली है मुझे बनाने। सुनी है सब हकीकत तेरी। बाजारकी रंडी! तेरा भरोसा भी क्या? तेरे पीछे बर्बाद हुआ, सारे गाँवसे बैर पाला, इज्जत-आबरू धूलमें मिली और तू ऐसी बदज़ात निकली—निकल छिनाल मेरे घरसे—!" और पड़ने लगे ऊपरसे तड़ातड़ लात-घूँसे, थप्पड़, चिमटियाँ। उसने लाख पैर पकड़े, पेटमें, छातीमें, लातें खा-खा कर भी पैर नहीं छोड़े। हज़ार कसमें खायीं, बहुत रोयी-धोयी, रोते-रोते उसकी हिचकियाँ बँध गयीं, पर उस दुष्टने एक न सुनी। सब गहने कपड़े छीन लिए, और फटे चीथड़े पहनाकर, अन्धेरी रातमें कहीं दूर जंगलकी एकान्त बाटमें ढकेल आया।

फिर वैसा ही कोई रक्षक आया होगा! ऐसे ही रक्षक एकके बाद एक उसके जीवनमें, विभिन्न रूप लेकर आते गये। हर बार वह भोली विश्वास कर बैठी, प्यार कर बैठी और फिर ठगी गयी—उसी राह ठेल दी गयी। चार बार वह गर्भवती हुई और चारों बार उसे भ्रूण-हत्या करनेको विवश होना पड़ा। उस पतिता, पापिनी, पति-हीना जमनाको, जिसे पाप करनेके लिए समाजसे 'पति' नामका लायसेंस हासिल नहीं था, माँ होनेका क्या अधिकार था? नहीं, उसका माँ होना दुनिया बर्दाश्त नहीं कर सकेगी, क्योंकि उसका बच्चा नैतिकताके उजले ललाटपर व्यंगका जलता हुआ प्रश्न-चिह्न बनकर जियेगा! वह पापका कीड़ा अगर जियेगा तो समाजकी चिर-पुरातन

नैतिकताके मेरुदण्डकी जड़ें हिला देगा। नहीं, उसे नहीं जीने दिया जायगा। पिताकी मुहरके बिना समाजमें उसका कोई स्थान नहीं, और सामाजिक अधिकारोंसे वंचित होकर उसे मनुष्यताके अधिकारोंसे भी वञ्चित रहना होगा।

पिछले पाँच वर्षोंमें जमना बडे से बडे अमीरके मच्छरदानीवाले पलगसे लगाकर झोंपड़ोंकी खाट, स्टेशनोंके मुसाफिरखाने, रेलके डिब्बों, सराय-धर्मशालाओं, मन्दिरो और सड़कों तककी दुनियाके बीचके अन्तर नापती हुई अकल्पित षडयन्त्रोंमेंसे गुजरी थी। इसीलिए उसकी गर्दिशों और ठोकरोंने उसे सारे सबक सिखा दिये थे, उसमें एक तीखी समझदारी पैदा कर दी थी—जो कभी-कभी ज्ञानसे भी नहीं मिला करती, वह तो जीवनके संघर्षोंकी ही चिनगारी होती है। अपने चार भ्रूणस्थ शिशुओंका भोग लेकर, अपने भीतरके मातृत्वको मारकर, वह अपने कोमल स्त्रीत्वको भी न जिला सकी। उसमें विद्रोह जागा, खूँख्वार, विश्व-संहारक विद्रोहसे वह पागल हो उठी। जगत्का शिकार बननेके बजाय, जगत्को अपना शिकार बनानेकी महा-हिंसा उसमें धाँय-धाँय सुलग उठी। हाँ, वह मनुष्यके कोमल फूलसे बच्चोंको—इन लाल कमलसे चेहरेवाले किशोर लड़कोंको पकड़ पकड़ कर तिल-तिल जालयेगी। अपनी भट्टीकी आँचसे दूर रखकर उन्हें झुलसायेगी, घातक वासनाके नीले छाले उठायेगी—और फिर उन्हें अपनी हथेलियोंसे कुचलेगी। हाँ, वह जगतसे प्रतिशोध लेने निकल पड़ी।

एक प्रवासी अमीर-जादेकी कृपासे वह इस शहरमें आयी थी। यहाँ आजाने पर उस विपुल परिवार वाले सम्पन्न घरमें कुँवर साहबने कुँवरानीजी और अपने बीच उसे खानगी खादिमाके तौर पर स्थायी रूपसे रख लिया था। कुँवर साहबकी उस पर असीम कृपा थी और कुँवरानीजीकी वह बहुत प्यारी चहेती दासी थी। आखिर वह दिन भी आया ही कि एक गर्मीकी दोपहर जमना कुँवर साहब के शयन-कक्षके मसहरीसे ढके पलंग की छत का शीशा फोड़ कर वहाँ से भागी, तब एक १००) रुपयेका नोट उसकी मुट्ठीमें सरका कर कुँवर साहबने उसका मुँह बन्द करना चाहा। उसने हँसते-हँसते वहीं खड़े रहकर नोटके टुकड़े-

टुकड़े कर डाले, और अपनी सहेली बनी हुई प्यारी बीबीजीको (जिन्हें वह पासके कमरेमें छिप कर खड़े रहनेको कह आयी थी) सारा नाटक दिखा कर, हँसती बलखाती बेरोक निकल गयी—अपने पीछे, सुखमे इतराते-झूमते धनिक दम्पतिका जीवन श्मशान बनाकर।

और तब आयी थी वह मजदूरी करके जीविका कमाने इस मिलमें। उपर्युक्त घटनाके बाद पिछले छ महीनोंसे वह यहाँ काम करती है और पड़ोसके गरीब मोहल्लेमे घर बसा कर रहती है। चाहती तो उस दिन १००) का नोट क्या हजार रुपयोंकी हीरोंकी अँगूठी निकलवा सकती थी उस अमीर-जादेकी उँगलीसे। वह चाहती तो शायद कुँवर साहबकी मेहरबानीके सायेमें बादामके हलुवों और नरम गद्दियोकी जिन्दगी बसर करती। मगर वह तो प्रतिशोधका व्रत लेकर निकली थी न। वह तो शिकार करने निकली थी, अब और शिकार होना उसे गवारा न था। कई प्रलोभनोकी मक्खन-सी स्निग्ध घाटियों पर वह फिसली थी, पर आज वह प्रलोभन तो क्या, राज-रानी होनेका प्रलोभन भी उसे उसके प्रतिशोधके खूनी व्रतसे विचलित नहीं कर सकता था। विद्रोहके जीवनमें भी एक अद्भुत अचल सयम होता है, जो तपस्वियोके सयमसे कम कठिन नहीं होता!

जीवनकी इस निर्मम हिंसाकी घड़ीमे गफूरकी वे मानवीय आँखें जमनाके सामने आयी, जो कातर प्रार्थनापूर्वक प्रेम और सहानुभूतिकी भीख माँग रही थीं। ओह, आज जीवनमें किसीने पहली बार उससे कुछ माँगा—उसे इस योग्य समझा कि उसके पास भी कुछ है, जिसे वह दान कर सकती है। मानों गफूरने उसकी खोई हुई आत्माकी याद दिलादी—उसका आदर, पूजन, सम्मान किया। पर उसके पास क्या था देनेको—हिंसा? जिसके पास पेट भरनेको रोटियाँ नहीं थी—उस जमनाको हृदय-दानका—प्रेम करनेका, क्या अधिकार था?

आँखके कोनेमे जमे गीजडोमे जान निकलनेको जैसे अटकी बैठी थी, मगर जीना ही होगा, इसीलिए मानो गफूर जीता था। कुहनियो पर फटा, पुराना फलेनलका फौजी कोट (जो किसी हाट बजारसे दिसम्बरकी सर्दीसे

तनकी रक्षा करनेके लिए खरीदा गया था) मैला-मैला ऊँचा, घुटनेमेंसे फटा तंग मोहरीका मुलतानी पैजामा तथा सरपर एक गदा, रस्सीकी तरह लपेटा हुआ फेंटा बाधे, वह गफूर कमरेके अन्दर दीवारकी ओट बैठा, अपनी सूखी रोटियोंको खोल कर ताक रहा था। फिर प्रार्थनाकी वे आर्द्र आँखें जमनाकी ओर उठी थीं। हाँ, नीलमणि बाहर बैठा—यह सब कुछ देख, सुन और समझ रहा था।

बूढ़ेका आत्म-निवेदन सुनकर सदाकी चचल, शोख जमना अपने स्वभावके विरुद्ध हठात् गम्भीर हो गयी। तब गफूरने जमनाकी मौन लाचारी का व्यवहारिक अर्थ लेते हुए कहा—

"हीं-हीं-हीं···हाँ, जमना अब समझा। यह भी खूब रहा—बूढा हो गया हूँ—मगर अकल मारी गयी है, अरे तुम तो हिंदुआनी हो न—तुम मेरा खाना कैसे खा सकोगी? मेरा खाना खाओ तो बिटल जाओ। तुम्हारा जात-मजहब न रहे—हीं-हीं-हीं ·····मैं भी क्या अजीब अहमक हूँ।"

जमनाने तीव्र, सरोष, गम्भीर स्वरमें उत्तर दिया— 'छि गफूर चाचा, भूल कर भी कभी ऐसी बात न कहना। मेरी कोई जात नहीं, कोई मजहब नहीं। मेरी जात है औरत—हूँ, औरत? औरतको जानते हो गफूर चाचा? मेरी जात पूछोगे गफूर चाचा? तुम्हारी बूढ़ी आँखें बहुत गरीब हैं, गफूर चाचा—तुम मुर्गीकी तरह देख रहे हो—गफूर चाचा, तुम मुझे अपनी जातकी नहीं बना सकते?"

तेरह वर्षकी अबोध बालिका-सी प्रश्नमयी होकर जमना विश्वासकी आँखोंसे गफूरका मुँह ताकने लगी। पास जाकर वह गफूरके निकट हो बैठी—

"गफूर चाचा, मैं तुम्हारी जातकी होकर रहूँगी—मुझे रोटी खिलाओ, भूख लगी है—मैं जरूर तुम्हारी रोटी खाऊँगी। मैं—मैं—मैं भी अकेली हूँ और गफूर चाचा, तुम कौन हो······ओह, आज तुम्हें देख कर मनके धीरजका बाँध टूट गया है—माँ-बापकी याद आती है। पर कौन वे हत्यारे माँ-बाप थे—उन्होंने क्यों मुझे पैदा किया? क्या इसी तरह गटरके कीड़ोंकी तरह जीनेके लिए? हूँ, गफूर चाचा, मुझे अचरज होता है—क्या इन्हीं आदमी औरतोंकी शकलके कोई माँ-बाप थे जिन्होंने मुझे पैदा किया!

... .. ओह, मैंने नहीं देखा, मैं कैसे मान लूँ ?... हाँ तभी तो ...
पर गफूर चाचा, तुम्हे देख कर मुझे अपने माँ-बापकी याद क्यों सता रही
है ? .. हाँ, मैंने सुना था बचपनमें—मेरा बाप तुम्हारी ही तरह मुसी-
बतका मारा, बूढा, गरीब, दुखिया था।...हाँ हा, मैं तुम्हारे साथ जरूर
रोटी खाऊँगी ..चाचा... ।"

कच्ची मूली गाजर, प्याज, नमक-मिर्च और बहुत-सी रोटियाँ लेकर
दोनों खाने लगे। इस तरह दोनो उस खाने पर टूट पड़े, मानों एक दूसरेसे—
प्यारसे छीन-झपट कर खा रहे हों, बच्चोंकी तरह। आज मानों वे पारस्प-
परिक सहानुभूतिसे अत्यन्त मानवीय होकर, समस्त हृदयके प्रेमसे एक
दूसरेको—उन रोटियों और मूली-गाजरोंमे बेइख्तियार खाये जा रहे थे।
और जमना बीच बीचमें बालिका-सी अल्हड़ उतावली होकर—अपने बच-
पनकी बदनसीबीकी कहानी कहती जा रही थी।

तभी बालककी तरह मूर्खतापूर्ण कौतूहलकी हँसी हँसकर गफूर पूछ
बैठा—

"और जमना · अ अ अ अ—(पीछेका सिर खुजलाते
हुए) यानी मैं पूछ रहा था ... यह कि .. वह तेरा घरवाला—धनी
कहाँ है · ? वह काम करता है क्या मीलमें ..?"

जमना बहुतसी गाजर मुँहमें भर कर खिल खिला कर हँसी और
बोली, "धनी किस जानवरका नाम है चाचा! · मैं नहीं जानती!"

ठहाका मार कर वह फिर हँसी।

"अरे तेरा खाविन्द '—क्या इतना भी नहीं समझती? बिना
खाविन्दकी भी कोई औरत होती है .....?"

जमनाकी छाती पर एक कोड़ा सा लगा। वह चिहुकी—उसे अपना
व्रत याद आ गया। तीव्र व्यंग्यसे जलता एक विकराल अट्टहास करती हुई
वह बोली—

"हा हा हा...... मेरा खाविन्द ? मेरा धनी ? मेरा घरवाला! अरे
वाह इतना भी नहीं जानते ? जितने आदमी सड़कपर घूमते-फिरते देखते हो

न—वो सभी तो हैं मेरे खाविन्द—मेरे धनी—मेरे घरवाले ! कोई मुहर-छापवाला धनी मेरे पास नहीं है। ये सब, जितने आदमी बने घूमते हैं न•• • सबने—सबने मुझे खूब खाया—जी भर चूसा और जब मन भर गया तो फूटी हँडियाकी तरह उठाकर सड़कके किनारे फेक दिया•••••• और गफूर चाचा तुम भी—तुम भी • हें हें हे ••••••••तुम्हें भी जरूरत है—तुम भी उन्हीं आदमियोंकी जातके हो न ?• "

कहती-कहती वह ऊपर चढ़ी आ रही थी। जमनाका यह आकस्मिक रूप-परिवर्तन देखकर बूढा गफूर डर गया, सहम गया, सकपकाया-सा रह गया। वह अपनी कहानी कह चली। ऐसी क्रूर रमणीयतासे, ऐसी आकर्षक भाव भगिमा से, वह अपना जीवनाख्यान सुना रही थी, मानों प्रवीणा सपेरिन, मधुर पुगी बजा-बजा कर पिटारीमे सोये भयकर विषधरको जगाकर, उसे अपनी बाहोंपर खिला रही हो। वह अपनी कहानी सुना रही थी—और अपनी भट्टीको प्रज्वलित करती जा रही थी। उसकी वे मोहनी आँखें खजर बरसा रही थी। गफूरके जीवनमें सोयी युग—युगकी आर्त क्षुधाने करवट बदली। बूढा बौख-लाया। आँखोमें लाचारी सुलगाये, भूखे पशुकी तरह वह उस भट्टीके किनारे खड़ा हो गया।

और कहानीका अन्त होते न होते फिर वह एक घातक हँसी हँसकर बोली—"और गफूर चाचा ... आज तुम...तुम तुम हो मेरे ग्वाविंद ..... हूँ बिना खाविन्दकी भी कहीं औरत होती है ! आजसे तुम हो मेरे घरवाले, अब तक कोई धनी न मिला अब तुमसे ब्याह करूँगी तुम्हें अपना धनी बनाऊँगी..." बूटकी लालच-भरी आँखोमे आँखें गडाकर, वह खूब जोरसे खिल्ली उड़ाकर हँस पड़ी—ऐसी हँसी, जिसमें सहस्र-सहस्र नागिनियाँ एक साथ फूत्कार उठी। और फिर चुप्पी साधकर मुस्कराहटसे ऐसा सर्प-डक मारा कि बूढा पागल हो गया। जमनाने बल खाकर अपनेको गफूरके कन्धे पर जोरसे फेका। गफूरने दोनो हाथोमे झेलकर उसे कस लेना चाहा। वह घोड़ेकी तरह चोट मारकर, दूर जा खडी हुई—

"कुत्ते..... सूअर .....!"

क्षण भरमें ही बूढे गफ़ूरका हिल्लोलित, उत्तेजित रक्त भीषण क्रोधमें परिणत हो गया। भूखे शेरकी तरह झपट कर उसने हाथका पंजा जमनाकी छाती पर मारा, तो बूढेके बढ़े हुए नाखून जमनाकी छातीमें गड़ गये। वह धीरेसे चीख कर दर्वाजेके सामने आ खड़ी हुई, तो सहसा उसकी दृष्टि बाहर बैठे नीलमणि पर पड़ गयी। वह स्तंभित स्तब्ध रह गयी। उसने क्षण भरमें ही समझ लिया कि नीलमणिने अवश्य शुरूसे आखीर तक यह सारी लीला देखी है। तभी नीलमणिने देखा, जमनाकी चोलीके ऊपर खुली छातीमें गाढे-गाढे खूनकी धारा-सी बँध गयी है। वह आश्चर्य, करुणा-कौतूहलसे चिल्ला उठा—"छि छि यह यह क्या किया, जमना .!"

जमनाकी पैनी दृष्टि वह सहन न कर सका। सामनेकी मेज पर दोनों हाथोंमें उसने अपना मुँह ढँक लिया। जमना मन ही मन सोच उठी—ओह, यह भोली-भाली सूरत, यह गुलाब सा खिला हुआ चेहरा कितना कोमल है वह! निरा बालक लगता है। हाय, क्या उसने देखा है—यह सब और और वह मुझसे नफरत करेगा—मुझसे? और वह मिलका भोंगा बज उठा—काम करनेका वक्त हो गया।

[॰]

दर्शन

पिछले दो तीन दिनों से नीलमणि का मन बहुत ही अन्यमनस्क, उदास और भटका हुआ है। इन तीन दिनोंमें सामने बैठी जमना नामकी यह विचित्र मजूरिन, ठीक इसी तरह एक दृष्टि से उसे घूर रही है। पर नीलमणि को नहीं मालूम था कि उसी धुरीने उसका मन भटका रक्खा है।

. नहीं, अब वह भीतर नहीं झाँकेगा। तब अपनेको अन्दरसे थोड़ा समेट कर, अपनी सारी बिखरी हुई चित्तवृत्तियों को दृढतापूर्वक पकड़ कर, उसने एक गाँठ लगा ली कि नहीं मैं हूँ, अविजित, अपराजित, एक अखण्ड मैं। माथेको हहरा कर बड़े-बड़े अस्त व्यस्त बालोंको झकझोर डाला। उसे

लगा, वह बहुत देरसे अकर्मण्य हो रहा है। एक दृढ कर्तृत्वके सङ्कल्पसे उठ कर अकारण उसने कुछ काम करने का उपक्रम किया।

उसे याद आया कि वह मिल लायब्रेरी का इनचार्ज भी तो है। पास की मेज पर पड़े इडस्ट्रियल-टेक्सटाइल मेगजीनोको झाड़ा, उलट-पलट कर देखा—बहुत सी फेक्टियो, मशीनों और कल-पुर्जोकी तस्वीरें है। वही मशीनों का जिक्र? मनुष्यताके सर्वनाशका वृहद वैज्ञानिक आयोजन, यह मशीन! नहीं-नहीं, असह्य है उसे, जगतके वक्ष पर हो रही यह दानव-लीला। और त्व उसका कर्तृत्व एक ऐसी रुद्र सहारेच्छासे भर उठा मानो वह, माँ पृथ्वीकी छाती की दूधकी धाराओको खूनमे बदलती इस मशीन राक्षसीको चीरकर दो टुकडे कर देगा। और फिर बहा देगा वही माँ की छातीकी उदार, नग्न, अबाध, निसर्ग दूधकी धारा, जिसे उसके बालक बिना किसी बाधाके, सामान रूपसे और विश्वस्त भावसे पियेंगे, पोषण पायेंगे। माँके दूधपर सिक्के-मुहर? ट्रेड-मार्क? सील चपडी? उसपर अधिकार, मॉनोपली, कन्ट्राक्ट? वह डिब्बों मे बन्द करके बाजारमे बेचा जायगा? जिसके पास पैसे हों वह खरीदे—और उसकी दूसरी सन्तानें भूखो मरेगी? उफ, वह एक मिनिट भी यह सब बर्दाश्त न कर सकेगा। .. और इस विज्ञान तथा मशीनोंने मानव जाति के प्राणोको कितना सस्ता बना दिया, जीवनका मूल्य कितना घटा दिया। हमारे मस्तकपर आकाशमें, हमारे प्राणोंकी पल-पलकी साँस-हवामे मौत मण्डरा रही है। मनुष्यता साँस नहीं ले सकेगी। उसे बेखटके जीने न दिया जायगा। नदियों और तालाबोंके पानीसे सावधान! उसमे जहर घुला हुआ है। माँ पृथ्वीकी छातीपर निश्वास-आश्वासनसे सोनेवाले मानव-शिशुओ, क्यो बेखबर सोये हो! माँकी छातीमें मौत छिपी बैठी है, तुम बोम्बार्ड कर दिये जाओगे। आकाश और पृथ्वी, सृष्टिके चिर-कालके रक्षक, प्रलयके पहले ही उसके भक्षक हो गये। उनके बीच जीवन पल-पल अरक्षित है, खतरेमें है। एक मनुष्य दूसरेकी जानका गाहक बना हुआ है। हम अविश्वास, सन्देह और खतरेकी जिन्दगी जीते हैं। सत्ता, पूँजी, युद्ध-हिंसा-प्रतिहिंसा, खून, आग, हिंसाके ज्वालामुखियोंके विस्फोट! कौन है इन सबके लिए

जिम्मेवार ? कौन ले आया है यह महानाश ? और तब उसकी आत्मामेसे मानों प्रतिध्वनि हुई—"मशीन, विज्ञान, मानवमस्तिष्क .. .हाँ, मानव मस्तिष्क ! जड़ और चेतनके सघर्षमें चेतनपर जड़की विजय !" ....
हाँ, वह विध्वस चाहता है—विध्वंस, फिर नवनिर्माण। और उसी आवेगमे उसने दो-तीन मशीनोकी तस्वीरोंवाले मेगजीन चीर डाले और फेंक दिये सामने टेबलपर।

बाहर एक मोटर बर्स्ट हो गयी, भड़ाम् ! नीलमणिका खून एकदम गिरकर ठडा हो गया। बर्फीली ठडी आँखोसे उसने देखा—उसके सामने मशीन राक्षसीके दो टुकडे नहीं, कागजकी मेगजीनोके टुकड़े फटे पडे थे, और वे मशीनें माँ पृथ्वीकी छातीकी दूधकी धाराओको खूनमें बदलतीं हुई अविराम धड-धड़ाती हुई चल रही थी। क्या वह उत्तेजना मात्र थी–नशा था ? क्या वह सब गलत था ? नहीं-नहीं वह उसकी आत्मामे शत-शत ज्वालाओंमे जाज्वल्यमान है, उसकी चिन्तन-धारा पर अग्निके अक्षरोंमे लिखा दिखायी दे रहा है।

उस स्वप्नसे वह इतना बेचैन हो गया, कि वह मानो अब बैठ न सकेगा, रुक न सकेगा। सृष्टिका केन्द्र जैसे उसे खींच रहा है। उसे किसी दुर्भेद्य काले पर्वतसे जाकर टकरा जाना होगा। इस स्वप्नके उस गर्भदेशको वह पाना चाहता है—जहाँ उसने यह आकार पाया है। और भीतरके सन्नाटेकी सारी ध्वनियोके साथ वह अपने अन्दर डूबता चला और जहाँ आकर वे ध्वनियाँ विसर्जित हुई वहाँ उसने देखा—सूखे हुए खूनका दाग उस नग्न छातीपर,—और चुनौती भरी आँखें, कि बचकर जाओगे कहाँ ?

नीलमणि अप्रकट रूपसे मन ही मन चीख उठा—ओह, असह्य, घृणित नारकीय ! और तब मानों जमनाके उन सृष्टिकी आग पिये हुए काले दातों-वाले ओठोंने हिलकर जवाब दिया—"हूँ—नैतिकता और पवित्रता ! नैतिकता और पवित्रताके उज्ज्वल कपडे पहने हुए जीवनको प्यार करनेवाले फूलकुमार, नग्न-जीवनको तुम सहन भी नहीं कर सकते ? ये कथित नैतिकता और चरित्र, सबलोंके द्वारा अबलोसे बलात् ली गयी पाशविकताके एकान्ताधिकारकी मॉनो-पली है ! मानों अज्ञानियो और निर्बलोंपर निरकुश रूपसे जुल्म करने, और बिना दस्तन्दाजीके अपना स्वार्थ-साधन करनेके लिए ही, धर्मके नामपर

ये मर्यादा और पवित्रता की दीवारे खड़ी कर दी गयी हैं—जिनकी ओटमें बड़ा से बड़ा अत्याचार सरक्षण पाता है—धर्मकी वेदीपर समर्पित होता है। इसीलिए वहाँ शिकवा-शिकायत करने की गुजायश नही। पर्दे की ओट में सब जायज है। पर जहाँ से जीवनका निर्झर फूटता है, सृष्टि के उस उद्गम मे—दीवारों की आड या बाधा नहीं है—विभाजन नहीं है। मुझ से नफरत करने के पहले अपने जीवन से नफरत करो, अपने जीवन के उद्गम से नफरत करो, अपनी माँ से नफरत करो, अपनी बहन से नफरत करो और अपनी उस मानोपोलाइज्ड स्त्री से नफरत करो, जिस पर समाज ने तुम्हारे पत्नीत्व की पवित्रता की मुहर लगादी है। तब—तभी तुम मुझ से नफरत कर सकोगे—उससे पहले नहीं . ....समझे मासूम—नादान बच्चे, तुम अपने अस्तित्व की कहानीनहीं जानते—मैं हूँ तुम्हारे अस्तित्व की जलती हुई कहानी ! मुझ पर किसी समाज के पत्नीत्व की मुहर नहीं लगी हुई है—इसीलिए मै माँ नहीं हूँ, बहन नही हूँ—मे हूँ मात्र नारी, सृष्टि की चिर काल से जलती हुई भट्टी, जहाँ आकर सभी अपने को होम देते हैं। और, बह जाते हैं पिघल कर .?,,

हाथोंमे मुँह ढँके नीलमणि बैठा है—मानों सामने देखने का साहस वह न कर सकेगा। उसी के अन्तरग लोक से प्रतिध्वनित होकर आती हुई इन परोक्ष आवाजों ने आकर उसके अस्तित्व में भूकम्प ला दिया। जीवन-गर्भ के अनेक तत्वों में तीव्र सघर्ष हुआ। सृष्टि के हृदय के अनन्त निगूढ रहस्य, प्रकृत नग्न रूप में सफेद भूतों की परछाइयों की तरह उसके सामने आकर खड़े हो गये—और उसे झकझोर डाला। यह सब देखते-देखते और सुनते-सुनते उसके आँसू न रुक सके। पृथ्वी के गर्भ मे विलीन हो गये उसके अगणित जन्मान्तरों की कहानियाँ उसकी आत्मा के कक्षों में राशि-राशि करुण सवेदन स्वरो मे गूँज उठीं, जैसे सरदी की रात में बस्ती के सीमान्त प्रदेशों से ढोलकी और खजरियों से सवादित, अनेक कण्ठों की एकत्र गान ध्वनि, सम्पूर्ण अन्धकाराच्छन्न गोला क्षितिज पर चक्कर काटती हुई आया करती है, और तब नीलमणि के प्राण बिछोह—कातर होकर अगम अतीतके अन्धकारकी ओर खिंचे चले जाते हैं।

नीलमणिके हृदयकी वही सारी अर्थहीन सञ्चित वेदना, आज इन आवाजोंमें होकर मानों मानवीय भाषामे मुखरित हो उठी। वह मात्र स्वर--संवेदन ही न रह गया, उसने मानवीय यत्रणाओंकी जबान पाली।

उस दिन जमनाकी छाती परकी उस खूनकी धाराको जो नीलमणिने देखा तो मानों वह उसमे बह गया। सृष्टिके गर्भ-देशके सारे तत्व जगत्मे वह विचर आया और फिर लौटकर उसी खूनके दागके सामने खड़ा हो गया, उसी मृत्युकी गुहाके अचल अन्धकारके सामने। ..उस दिन उसने मानव की सच्ची मृत्यु देखी थी। जीवनी शक्तिकी वेदी पर मानवका ऐसा दैन्य-अभाव भरा आत्म-निवेदन और आत्म-समर्पण ? .पर वह तो जीवन-नीति थी न ? सृष्टिके नग्न बालक जीवन-नीतिका पालन कर रहे थे। वह तो मानव भाग्यका, अरे जीवन मात्रका चरम अपराध है। समाजकी कथित, स्वार्थी नैतिकता उस अपराधसे मानवकी मुक्ति नहीं करा सकती। वह तो मात्र अपराधोंको रंग बिरंगे कपड़े पहनाती है, वह तो पापों और अपराधोंके छिपने के लिए ओट कायम कर देती है, अन्धेरी कोठरियाँ बना देती है, जहाँ अपराध पोषण पाता है, मखमलकी गद्दियो पर लिटाया जाता है—फूलोंकी चादर ओढाकर गुलाबके फव्वारोंसे नहलाया जाता है, सौरभ शैयाओंमें दफनाया जाता है, वॉयलेट और लवेण्डरोंके टॉयलेट-फेनोमे बसाया जाता है! नग्न सत्यकी इस ज्वालाको साक्षात् सहन करनेका यह दिव्य तेज और शक्ति जब उसमें जाग उठे, तो नीलमणिके सामने खड़ा खूनका दाग हिलकर फट पड़ा, जैसे जीर्ण, पुरातन चट्टान फट पड़ी हो, और वह मृत्यु-गुहाका अन्धकार भग्न हो गया। अपनी समस्त शक्तियाँ और साहस बटोरकर नीलमणिने तीन दिन पहिलेके उस दृश्यको अपनी स्मृतिके perspective में देखा—जैसे किसी पिछली रातका भयानक स्वप्न हो।

आज इस बलवान प्रकाश-क्षणमे उसे सहज ही मानों समझमें आगया कि कैसे और क्यों उस दिन मानव-हृदय-सुलभ प्रेम, सहानुभूति और आत्म-दानकी वह सुन्दर कॅमेडी क्षण भरमें ही विश्व-द्रोहिनी हिंसाकी खूनी ट्रेजेडीमें परिणित हो गई थी। जमना और गफूरकी आत्माओंके संघर्षमें नीलमणिकी आत्मा भी झोंके खा रही थी। वह उस दिन अपनेको उस जीवन सघर्षसे न

बचा सका था। वह अपने फिलॉसफीके पेडेस्टल पर खड़े होकर अनासक्त भावसे देखकर ही न रह गया था। अपने समस्त प्राणका योग देकर किसी न किसी रूपमें जगतके उस एकान्त कोनेमें घटनेवाली सृष्टिकी उस ट्रेजेडीमें वह अपना महत्वपूर्ण पार्ट अदा कर रहा था। जमनाकी जीवन-कथा, उस अपढ अज्ञानिनी जमना ही के मुँहसे मानव-हृदयकी अत्यन्त आग्नेय, उद्वेलित भाषामें सुनकर, नीलमणिके हृदय और मस्तिष्क अपनी सीमा और सयम त्यागकर, बेइख्तियार बह चले थे। तबसे आज तक—इस मिनट तक-वह बराबर इस अन्धडमे उड़ता रहा है, और आज पूर्ण आत्म-विश्वास और आत्म-बलके साथ वह फिर खिचता हुआ उसी धुरीके पास लौट आया है।

बीच-बीचमें जब भी नीलमणिने निगाह बचाकर देखा है, उसने पाया है—उस जमनाकी दृष्टिमें अन्तर नहीं आया है। उस दिनकी घटनाके बाद वह बराबर ऐसी ही घूरती रही है। आज सरल बालककी जिज्ञासु, कुतूहलमयी दृष्टिसे, वह भरपूर खुलकर जमनाकी ओर देख उठा।

हरी-हरी धारियोंका वही लाल लहँगा, उस पर चौडी लाल किनारकी धूल और दागोसे भरी काली ओढनी, बिखरे हुए असंयत केशोकी गालोपर छाती हुई लटे—उनमेंसे झाँकते कानोंके चाँदीके झुमके, पीली मोहिनीसे भरा क्लान्त-म्लान, कुम्हलाया-सा चेहरा, आँखोंके नीचे श्याम नील गहरी-गहरी छाया, पानोंसे सियाह पड़े हुए कजरारे ओंठ, अतुल विषादकी पीलिमासे भरी गोल, नुकीली, चञ्चल आँखें—जिनमें सृष्टिकी प्यास मरणका उन्मादक आकर्षण बनकर झाँकती है, यह है जमनाका रूप !

गम्भीर विषादकी प्रतिमूर्ति-सी बनी, दोनो घुटनो और जघाओंको एक ओर मोड़कर, सारे शरीरके अग-विन्यासमें एक चुटीली बँकिमा भरकर, कमर को बल दिये, एक हाथकी कुहनी जाँघपर रखे, दूसरा हाथ जमीन पर टिकाये वह बैठी थी। उसकी काली सफेद छींटकी चोलीके ऊपरके माँसल उभार पर वह खूनका दाग सूखकर जम गया था, ज्योका त्यों, अनधुला-अनपोछा। न टिंचर-आयोडिन लगाकर उसे ठडक पहुँचाई गई थी—और न वैसलीन लगाकर नरमाया गया था !

नीलमणि स्थिर दृष्टि गडाकर जमनाकी उन आँखोंमें देखता ही रहा। अनायास ही, व्यगसे पथराई हुई उन वज्र-कठिन आँखोके किनारे पानीकी लकीरें बँध गयी। वे तरल, करुण-कोमल हो गयी। एक चञ्चल रमणीयता आँखकी गहरी बरौनियोमें, आँख-मिचौनी खेलने लगी। एक षोड़शीकी नवकौमार्यभरी, कौतूहलकी आँखोंसे वह देख उठी। क्षण भरमे ही एक अद्भुत कोमल रमणी रूपकी उसमे अवतारणा हो गयी।

दोनो हाथ फैलाकर सारी अग-राशिको एक गम्भीर आलोड़नके आलस भरे ज्वारसे, धनुषकी तरह बकिम भगिमामें खींचकर उसने अगड़ाई भरी। फिर एक विचित्र सुदूरताके सम्मोहनसे भरी बेधक दृष्टि नीलमणिके चेहरेपर डालकर वह उठ खडी हुई, और कमरेमे ओझल होकर खिडकीके किवाडोंके अन्दर सफेदा पोतते लडकेको लक्ष्यकर जोरसे कहा—

"महमूद, आज काम खतम हो गया, कलसे कहीं और काम देखना होगा। इस मीलसे तबियत भर गयी—और कहीं जाना होगा!—तू भी चलेगा मेरे साथ ? "

फिर जोरमे ठहाका मारकर हँसी और बोली—

"मगर गफ़ूर चाचा कहते ह कि उनकी कबर तो इसी मिलमे बनेगी!"

दूसरी खिडकीपर काम करते गफ़ूर चाचा तुनककर बोले—

"अरी ओ जमनियाकी बच्ची! जादे जबान-दराजी अच्छी नहीं . मेरी कबर क्यों बने ? बने तेरे बाप की और तेरी कबर—"

"मगर मेरे बाप तो तुम्हीं हो न गफ़ूर चाचा, और तुम्हींमे मेरी कबर बनेगी ?—नहीं तो और कहाँ ?"

नीलमणि अपने हृदयके रक्तमे पडी, पीड़ाकी गाँठोंमे उलझ रहा था। जैसे ललकारती हुई यह खिलाड़िन कह रही है चुनौतीके साथ कि "कल मैं यहाँसे चली जाऊँगी--इस असीम दुनियामे खो जाने, और तुम ?—तुम मुझे पकड़ने दौडोगे ?—दौडना!" अरे, नीलमणि कैसे अपनेको रोक सकेगा ? मानो यह करुणा तो उसकी समूची आत्माको पिघला कर बहा देगी।

साढे-पाँच बजे, मजदूरोंका प्रवाह मिलके दर्वाजेकी ओर बढ रहा था। मालूम हुआ छुट्टी हो गयी। नीलमणि मानों किसी अज्ञात् आमन्त्रणसे अधीर

हो उठा। हृदयका रक्त जैसे मस्तिष्कमें जाकर टकरा रहा था। उसके ज्ञान-तंतु एक तीव्र करुणासे ढीले पड़ रहे थे, विगलित हो रहे थे। अत्यन्त भ्रमित, विचलित वेदनाक्रान्त चित्तसे, वह इधर-उधर डोलने लगा। साहब पतलून की जेबमें हाथ डाले, टेढ़ी हैट लगाये, मुँहमें सिगरेट दबाये लौटा। नीलमणि अनबूझ-सा उसे ताकता रह गया। घड़ी देखते हुए साहबने कहा—

'इट्स्—थर्टी फाइव पास्ट, फाइव, माई मेम साहब उड बी वेटिंग फॉर मी, गोइंग ओम "

कोट चढ़ाकर साहब चल पड़ा गुड-नाइट कहते हुए। नीलमणि आज उत्तर न दे सका—दिग्-विमूढ-सा देखता रह गया। कुछ देर बाद अनायास ही वह बाहर चला गया, खुली हवामें साँस लेने। केबिनके पीछे, तारकी फेंसिंगके पास जाकर वह खड़ा हो गया। विस्तृत दिगतव्यापी जंगल-प्रान्तमें, पेड़ोंके झुरमुटोंपर साँझकी अन्तिम किरणें—और दूरवर्ती पहाड़ियोंकी धूमिल नीलिमा, मानों इस सबको लाँघकर उसे आज सृष्टि-प्रकृतिके पार जाना है। मानों अपनी इस क्षणकी अशेष व्यथामें वह इस सारे सौन्दर्यको घुला देना चाहता है, अपने संवेदनके उच्छ्वासमें इस सारी रमणीयताको वह बाँध लेना चाहता है। एक महावासनासे आकुल उसके प्राण फैलकर, इस निखिल सुख-दुःखमयी सृष्टिको आलिंगन--पाशमें बाँध लेना चाहते हैं।

जाने कब तक वह ऐसे ही केबिनके पिछवाड़े डोलता रहा—दिशाओंके छोर पानेको आकुल-व्याकुल। और जैसा आया था वैसा ही अनायास वह केबिनकी ओर लौट पड़ा। मजदूरोंका प्रवाह निःशेष हो चुका था। मिल-प्रान्तरमें उदास सन्नाटा फैल गया था। ऑफिसके इक्के-दुक्के क्लर्क अपनी-अपनी साईकिलोंपर मिलके परित्यक्त काले आँगनसे गुजर रहे थे। कोई एकाध मजदूर रोटीका खाली डिब्बा हाथमें लटकाये चला जा रहा था—घर जानेकी क्षिप्र आतुरतामें।

जाने कबसे छुट्टी हुई है,—साहबको गये जाने कितनी देर हो गयी,—और नीलमणि ऐसे ही डोल रहा है! समूचे विश्वकी व्यथा-करुणा उसके प्राणोंको मथ रही है। उसमें उसकी आत्मा रुद्ध है। वह मार्ग नहीं पा

रहा है। उसे घर जाना है—पर वह कैसे जा सकेगा?

एक असयत, प्रबल आवेगमें ही वह फेंसिंगमें घुसा। देखा—बाहरकी सब टेबलें केबिनके भीतर जमा दी गयीं हैं, और उसकी किताबोंका झोला, कोट, अखबार? शायद अन्दर रख दिये होंगे। बढ़कर उसने केबिनमें प्रवेश किया—

बायीं ओर, खिड़कीके नीचे, दीवारके सहारे जमना बैठी थी—घुटनेपर ठुड्डी टिकाये!

नीलमणिको देखते ही, उसके स्याह होठ मुस्करा उठे, जन्मान्तरोंके विस्मृत मोहसे भर कर। वह सहमी-सी उठ खड़ी हुई। उसकी आँखोंमें रमणीकी कोमलता थी, माँकी स्निग्ध स्नेहमयी करुणा थी, और था जाने कैसा विषाद भरा गम्भीर माधुर्य, जो बरौनियोंकी ओट लबालब भर आया था।

विनम्र होकर उसने एक आर्द्र, व्यथित दृष्टि नीलमणिपर डालते हुए धीरेसे कहा—

"आप बैठेंगे यहाँ बाबू-साहब, अभी कुर्सीमें धूल लगी है—ठहरिए मैं झाड़ देती हूँ कुर्सी ."

नीलमणि अपने कोट, झोलेकी बात भूल गया। जमनाने अपना अंचल पसारकर एक लोहेकी कुर्सीको अच्छी तरह झाड़ दिया और फिर अचल गलेमें डालकर खड़ी हो गई। इस जमनामें—नीलमणिने चिरकालकी आत्म-दानमयी नारीका विनम्र वत्सल, गम्भीर मातृ-रूप देखा। नीलमणिके भीतर की रुद्ध आत्मा सीमा तोड़ कर बह चली। अरे, इस नारीको छोड़कर वह कैसे चला जायगा?

उसने भर्राये कण्ठसे अधीर स्वरमें पूछा—

"जमना, जमना तुम कौन हो—तुम कौन हो तुम अब चली जाओगी? कहाँ चली जाओगी? क्यों चली जाओगी?—जमना, मैं तुम्हें जानना चाहता हूँ—तुम्हारी कहानी मैंने सुनी है मैं .. मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा .. नहीं मैं तुम्हे न जाने दूँगा—हर्गिज़ न जाने दूँगा ....

मैं तुम्हारे साथ चलूँगा "

हाँ, उसके विद्रोहके कठिन सयमको तोड़कर जमनाकी आँखोंसे आँसू बह रहे थे, जिन्हें वह छिपा रही थी। चुराकर उसने वह किशोर मुख देखा। ओह, किस माँका लाडला है यह? उसे अपने गर्भमे दफनाई हुई सतानोंकी याद आ गयी। क्या वह इस लड़केको प्यार नहीं कर सकेगी? क्या उसे प्यार करनेका अधिकार नहीं? वह चाहे तो कर सकती है—प्यार करनेको वह स्वतन्त्र है। पर . पर यह मनुष्यका बच्चा .नहीं, मनुष्यतापर उसे विश्वास नहीं है! वह तो उसने सदाके लिए खो दिया है। और प्यार!—छि वह तो छलमात्र है—आत्म-छल है, अपनेको वह और धोखा न दे सकेगी। बहुत खेल चुकी वह प्यारका खेल—अब वह दुनियाको अपने साथ खेलनेका और मौका न देगी।

जमना सहसा हँस पड़ी—उसकी आँखोके नीचे आँसूकी बडी-बडी बूँदें ढुलक रहीं थी—उसके गाल भीगे थे। और पलक मारतेमें,—उन बड़ी-बड़ी विषाद-भरी, अश्रु-विगलित आँखोंमें, एक खूनमे लिपटी तलवार जैसे लपलपा उठी।

एक तिरछी दृष्टि नीलमणिपर डालकर हँसती हुई वह मुड़कर बोली—

'बाबू साहब. ..आप मेरे साथ आयेंगे? आप मेरी रक्षा करेंगे? नहीं बाबू साहब... .आप वहाँ नहीं आ सकेंगे—जहाँ मै जा रही हूँ—। यह भोली-भाली सूरत, यह छौना-सा मुखड़ा! घर जाओ—बाबू साहब, तुम्हारी माँ बाट जोहती होगी। मेरे साथ आकर क्या करोगे, बाबू साहब . . मेरे पास क्या है .....नहीं बाबू साहब, वह तुम्हारे बसका नहीं है—वह तुम्हारा रास्ता नहीं है . .."

कहते हुए एक तिरछी दृष्टि बिजलीकी तरह नीलमणिपर फेंक, मजीरकी रणकार-सी धीमी मोहिनी हँसी हँसकर, वह केबिनके सामनेकी दीवारके कोने में खुली, छोटी कोठरीके अंधेरेमें प्रवेश कर गयी।

नीलमणि अधीर करुणासे विह्वल हो गया। नहीं—वह इस जमुनाको छोड़कर नहीं जा सकेगा—वह उसे अपनी आत्मामें ढाँक लेना चाहता है।

कुछ क्षण ठहरकर—अद्‌भुत बलसे प्रेरित वह उस द्वारकी देहलीऊपर जा खड़ा हुआ।

कुहनी धरतीपर टिकाये, हथेलीपर सर दिये—जमना घुटने मोड़कर जाँघोंपर लेटी हुई थी। वक्षपरका आवरण विच्छिन्न कर दिया गया था। उस नील-धूमिल प्रकाशमें—उस नग्न छातीपर वही जमा हुआ खूनका दाग नीलमणिको दिखाई पड़ा। ओह, क्या यही—सृष्टि की चिर-कालकी पुरातन चट्टान है, जिसपर मनुष्यता ने पछाड़े खा-खा कर अपना खून बहाया है! और आज मानों नीलमणि को आमन्त्रण है!

उसके देखते-देखते उस अन्धियाले में दीप्त-उन सामने की आँसू-भरी आँखो में अगारे जल उठे। और उस अन्धकार में मानो, एक कटु-कठोर व्यग्य की तीखी ध्वनि आ रही थी---

"आओ न---मेरीरक्षा करो न! रुक क्यों गये!" ओह सृष्टि की नग्न हिंसा, महानाश की वह ज्वाला उन आँखों में सुलग रही थी और साथ ही उन आँखों में मनुष्यता धाड मार-मार कर रो रही थी।

नीलमणि और अधिक सहन न कर सका। वह दोनों हाथों से जोर से आँखें मींच कर रो उठा –

"ओह असह्य . . ओह जमना मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकूँगा!······क्या कर सकूँगा! . अपने पास से क्या दे कर यह तृष्णा बुझा सकूँगा... अरे कैसे इन आँखों की हिंसा की यह आग शान्त कर सकूँगा !"

और उसकी आँखो से आँसू-निर्झर की तरह झर रहे थे। वह रो उठा था जीवन के अपराध की चरम-सीमा रेखा पर पहुँच कर।

और सहसा उसे अपने भीतर एक गम्भीर नाद सुनायी दिया।···हाँ—आज मनुष्यता की पुकार आयी है---उसे जाना होगा---उसे अग्निके पैर धारणकर जीवनके नरकमें जाना होगा...वह रुक न सकेगा! हाँ, उसे अपनी आत्माको खतरेमें डालकर भी...इस पुकारपर चल पड़ना होगा...! . और वह बढ गया उस अन्धकारमें, उस नग्न-ज्वालाकी ओर, क्योंकि उसे अपनी आत्माकी प्रेम-ज्योतिपर विश्वास था।

३

सृष्टि का अनुरोध

वह देशका ज्योतिर्धर था, और अपने युगके विश्वका महाप्राण हित-चिन्तक। वह व्यक्ति न रह गया था--वह तो एक प्रवहमान तेज था, शक्ति थी। सम्पूर्ण विश्वके साथ पूर्ण-रागताका साधक होनेके कारण वह वीतराग हो चला था। प्रखर सत्यके रूपमे जल रहा था उसका जीवन!

वह अपने तपोवनकी पर्णकुटीमें बैठा, अखण्ड मानव-हृदयपर शासन कर रहा था। उसकी बात समझमें नहीं आती थी। लोग उसे समझनेमें ग़लती करते थे। फिर भी उसकी उँगलीके इशारे पर देशमें खूनकी नदियाँ रुकी हुई थी! वह सारे राष्ट्रके खूख्वार पशुत्वको अपने आत्मबलकी मुट्ठी पर सम्हाले हुए था—अपनी मुस्कराहटकी सॉकलमें बाँधे हुए था!

उसकी प्रत्येक चिन्ता सकल्पके रूपमें होती थी। चिन्तन और कर्म वहाँ अभेद हो गये थे। वह जीवित आदर्श था—सत्य और आचरण पर जो समझौता नहीं जानता था। उसका अस्तित्व मानव-इतिहासके अब तकके

पशुबलको आत्मबलकी चुनौती था। कहा न, कि वह प्रवहमान आत्म-तेज था!

और एक दिन देशका कवि उसके निकट आकर प्रणत हुआ और बोला—

"देव, मेरी एक प्रगल्भता है—क्षमा करें। मैं आत्म-बल पर काव्य निवेदन करना चाहता हूँ—आज्ञा दीजिये!"

सन्तने हँस कर मार्मिक-स्वरमें पूछा—

"आत्म बल पर कविता कैसे हो सकेगी? आत्म-बल तो कवितामें लिखनेकी चीज नहीं है—कवि, वह तो आत्म-छलना हो जायगी!"

कवि क्षण-भर स्तब्ध, सन्नाटेमें आ गया। फिर आवेगभरी, परन्तु विनम्र-वाणीमें आग्रह कर उठा—

"देव, आप तो आत्म बलके अवतार हैं—आपके लिये आत्म-बलके काव्यका मूल्य शून्य होगा—यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ। पर आप तो वैराग्य द्वारा नहीं, प्रेमके द्वारा विश्व-हृदयसे एकात्म्य साधनेका पावन अनुष्ठान किये हैं न, अपने जीवनमें? लोक-हृदयमे तो आदर्शकी प्रतिष्ठा भावना की भूमि पर ही हो सकेगी—फिर भावना और प्रेरणाकी महत्ताको आप कैसे अस्वीकार कर सकेंगे? आप आदर्श हैं—कठोर हिमाचल। पर आपको पिघलाकर लोक हृदयमे भरनेका काम कविकी वाणीसे ही हो सकेगा। कविकी उस वाणीको आत्म-छलना कहते हो महाप्रभु! उसके सत्यको इनकार करते हो? अच्छा देव, अपराध क्षमा हो—कविकी वाणी कुण्ठित नहीं होगी—क्योंकि वह तो प्राणका उन्मेष है—किसी भी आदर्शके लोह-बन्धनमें बँधकर वह रुक न सकेगी। आज्ञा लेता हूँ प्रभु!'

"नहीं कवि, यदि ऐसा तुम्हारा दावा है—तो अपनी कविताका पाठ करो!"

"जो आज्ञा देव!"

कह कर कविने भावोन्मेषिनी, उन्मुक्त—ओजमयी वाणीमें काव्य पाठ किया। वह चुप हो गया।

सन्तने मुस्करा कर मर्म-वाणीमें कहा—

"कवि, तुम्हारे काव्यका अर्थ मेरी समझमें कुछ न आया।"

और निखिल मानव-हृदयका प्रतिभा-चक्रवर्ती, देशका वह प्राण विहारी कवि, उस शक्तिसे एक रगड़ खाकर चला गया।

क्या वह कविकी पराजय थी—अवमानना थी? नहीं, वह तो कविकी महत्ताकी अग्नि-परीक्षा थी! उसकी आँच झेलना उसके लिये अनिवार्य था। कवि इस रगड़से अस्तित्ववान होकर लौटा था। अब तक जो केवल अन्ध श्रद्धा उसमें भरी थी—वह अब पारदर्शिनी हो उठी थी।

*　　*　　*　　*

सन्त नित्य-प्रति, प्रातःकाल ऊषा-बेलामें, अपने दाएँ-बाएँ दो कुमारिकाओंके कन्धों पर हाथ रख, आश्रमकी अन्य बालाओंसे घिरा, वायु-सेवनार्थ जाया करता था। ब्रह्मचर्यकी शक्तिको इसी ज्वलन्त क्रॉस पर परखनेका हिमायती—विद्रोही प्रकाश-द्रष्टा था वह! सारी लाँछनाओंके तीरोंके बीच, उन बालाओंके स्नेह-काननमें वह निर्द्वन्द्व, अभय विचरण करता था।

पहले दिनकी वायु-सेवन बेलामें, जिस स्थल पर सन्तने कविका कविता-पाठ सुना था, आज फिर, उसी समय सन्त उसी आम्र-वनके तले शिला पर बैठा था। उसके शान्त मुख-मण्डल पर एक निष्प्रयोजन आनन्दकी मुस्कान खिली थी।

तभी उसके पास खड़ी एक बाला, जिज्ञासा-कातर कण्ठसे पूछ उठी—

"देव, कल जो तरुण कवि काव्य-निवेदन कर रहा था,—उसमें आत्म-शक्तिका अभाव था? क्या वह निरर्थक थी—निरी आत्म-छलना थी? कल तुमने कहा था न देव ..? मैं मैं ....."

कण्ठ उसका पुलकित, गद्-गद्, भर्रा आया था। वह आत्म-विभोर थी और पिघल चली थी। मानों कहीं उस प्रखर प्रकाशने उसे चोट पहुँचाई थी, और वह घायल हो गई थी।

"देव, क्या कहा था तुमने—आत्मबलका काव्य नहीं होता...? पर वह कवि तो देव, क्षमा करो न मेरी ढीठता,.. वह कवि तो अपने चरणोंका स्वामी था। उसे काव्य-पाठ करते मैंने सुना था .. उसके स्वरमें वह शक्ति थी...वह शक्ति थी...कि प्राण बन्धन तोड़ कर उन्मुक्त उड़ चले थे। मानो

लग रहा था—नस-नसके रक्तमें चेतनाकी एक नवीन अग्नि-सी लहरा उठी हो ! और तुम उस स्वरकी शक्तिको अस्वीकार करते हो देव,—पर जो सत्य मेरी आत्मामें जल रहा है, उसे मैं कैसे इनकार कर सकूँगी ? भावना-देशका राज-चक्रवर्ती है वह कवि, और हम भावनापर जीनेवाली नारियाँ ! तुम्हारे निकट कैसे इतनी बड़ी आत्म-वञ्चना करूँ, महाप्रभु ! मेरे भीतर यह जो ...जाती हूँ देव—तुम्हारे चरणोंमें मेरे लिये स्थान कहाँ ?"

और वह अश्रु-गद्‌गद् हो सन्तके चरणोंमे धराशायिनी हो गई। आत्म-निवेदनके पावन आँसुओंसे भीगी—अपने ही धर्मकी आभामें वह परम तेजोमयी थी।

सन्त चौंका। हाँ उसकी आश्रम-पालिता, उसकी वाणीको निरन्तर अपने आँचलमें झेलनेवाली वह कुमारिका, अपनी आँसूभरी आँखोंसे आज सन्तसे बड़ा ही विषम प्रश्न पूछ उठी। यह संसारकी स्रष्टा रस-शक्तिका—सौन्दर्यका—निष्ठुर, एकान्त, प्रखर सत्यके प्रति नितान्त दुर्निवार, निर्मम विद्रोही प्रश्न था !

सन्त स्तब्ध, सरल बालककी भाँति जिज्ञासु, उस बालाकी आँखोंमें एकटक देख रहा था। एक सागर हिलोरे मार रहा था उन अश्रु दीप्त आँखोंमें, एक निगूढ शक्ति अपना परिचय दे रही थी।

सन्तने मुस्करा दिया—और बोला—

"सब समझ गया बाले ! कल तुम्हारा कवि तुम्हे लौटा दिया जायगा।"

अश्रु-विनत बाला, सन्तके चरणोंका गन्धोदक लेकर, दोनों जुड़े हाथों पर माथा झुकाये, घुटनोंके बल प्रणत विनम्र बैठी रह गई।

सन्तने आशीर्वाद दिया—

"तुम्हारी सृष्टि अमर रहे—चिरकाल तक आत्मबलका जय-घोष करती हुई—कल्याणमस्तु !" कह कर सन्त उसी निर्ममतासे विहार कर गया। पर आज जैसे उसकी निर्ममता झटका खाई हुई थी।

४

जीवनका जुलूस

मधुपुरका छोटा-सा रेल्वे-स्टेशन, साँझकी अन्तिम किरणें काले पत्थर-वाले स्टेशन पर छाये बोगनवेलियामें झर रही थी।

प्लेटफॉर्म आज सुनसान था। मैं और मौसीही अकेले यात्री इस स्थानसे चलनेवाले थे। दो-तीन वृद्धा आत्मीयाएँ पहुँचाने आयीं थी। मौसी और मैं अपने शहरसे, यहाँ ननिहालमें, किसी मृत्यु शोकके अवसर पर आये थे। कुलका दीपक बुझ गया था—एक तेईस वर्षके जवान लड़केकी मौत हो गई थी। शादीके नौवेही महीने एक पन्द्रह वर्षकी सुहागिनी बालाका अहि-वात उतर गया था। सो बिदा-बेलामें उसीका करुण उपसहार चल रहा था। ममता-माया, बिछोह, देश-कालकी दूरियाँ, मर्त्य मानवकी बेबसियोंकी वही कथा!

••• सामनेकी समाधि-सी शून्य पहाड़ीपर एक झाड़की ओटमें सूरज का बादामी बिम्ब डूब रहा था। तब गाड़ी आ गई। हम दोही यात्री थे सो सवार हो गये। चार-पाँच मिनट गाड़ी ठहरी मैं और मौसी अब

खिड़की पर थे। नीचे वे विधवा आत्मीयाएँ अपनी सीमाओंमें बन्द, खामोश खड़ी थी, हम परस्पर एक-दूसरेको ताकते रह गये और गाड़ीने सीटी देदी।

खिड़कियोंके पास, आमने-सामने मै और मौसी बैठ गये। उनके और मेरे बीच एक गहरा मौन छा गया। हम दोनो अपने ही भीतरकी अन्त-र्धाराओंमें अचेत हो गये थे। खासे बड़ेसे कम्पार्टमेण्टमें अनेक यात्री थे, जिनके बीच दो द्वीपोंकी तरह हम दोनो मानवी कुछ अलगसे नजर आते थे। जाने कब बत्तियाँ जल उठी

और स्टेशनसे एक ही माइल चल कर जो शिवना नदी पर पुल बना है, वहाँसे गाड़ी धीमी पड़ कर चल रही है। नीचे चट्टानोवाले नदीके पाटमें जलका गभीर श्रोत-स्वर सुनाई पड़ रहा है। किनारे जो स्मशान है, वहाँ एक चिताकी अभी-अभी बुझी हुई राख शेष है, सफेद-सफेदमे लाल-लाल आग। पुलके उस पार दूरके तट देशमे तरवूज और खरबूजोंकी बेलें साँझकी हवामे लहरा रही हैं। और उससे भी परे क्षितिजकी रेखा पर, बबूलोंकी वनालीमें द्राभा उदास, स्तब्ध खड़ी है। इस पार श्यामतामे डूबती-सी किलेकी दीवार अभेद्य नियति-सी लग रही है। नीचे नदीके सुनसान पाटमें, तटकी जल-घाँसमें द्राभाकी शेष प्रभा बुझ रही है। किलेकी पहाड़ीके पूर्व छोर पर एक वट-वृक्ष समाधिस्थ योगीसा खड़ा है। किलेकी दीवारके पाद-प्रान्तमें वह 'अडी-चडीकी बावडी' और 'सास-बहूके महल' का खण्डहर एक चिर पुरातन अन्धेरेके चित्र बना रहे हैं। और वह वट-वृक्षके पास ही एक दरगाह है, जहाँके विशाल गुम्बदमें आवाजकी प्रतिध्वनि होती है। उस कलश पर मेरी निगाह जैसे एकाएक ठिठक गई। जीवनके अतीत अन्तरालमेंसे एक प्रति-ध्वनि-सी आने लगी। बीते बरसोंकी चित्रशाला खुल पड़ी। किलेकी इन्हीं पहाड़ियोंमें बाल्यकालकी वे साहसिक लीलाएँ, खोज-तलाश, निर्लक्ष्य भ्रमण और शैतानिया, वे धनुर्विद्या सीखनेकी उमगें, वह तीर-कमान लेकर किलेके भयावने और अज्ञात प्रदेशोंमें भटकते फिरना

'और गाड़ी बढती जा रही है। बाहर आजू-बाजूके वन-प्रान्तमें गाड़ीके भीतरकी बत्तियोंका प्रकाश पड़ रहा है, खिड़कियों और उनमें बैठे

मनुष्योंकी परछाहियाँ उसमें पड़ रहीं हैं। एकके बाद एक वृक्ष अँधेरेमे निकलते जाते हैं। जीवनके कई सुख-दुखके छोरोंमें हम भटक गये। अपनी विफलताओ, मजबूरियो, परिस्थितियों, देश-कालकी सीमा-बद्धताओंमें हम चिन्ताकुल हो रहे थे। जाने कितना जो अपना जीवन बीत चुका है, उस पर सहानुभूति और करुणाकी दृष्टि थी। और भविष्यकी अनिश्चिततात्रोंमें मै अभिभूत हो चला।

अपने दु खमें मनुष्य कितना अकेला है? यह क्या इसीलिये नहीं कि मनुष्यको दु खसे मोह है। अगर अपने सुख-दुखको प्यार करनेकी, उसे अपनानेकी कमजोरी ही हट जाये, तो अकेलापन ही क्यों रहे? तब निखिल जीवन-जगत अपनेसे बाहरकी चीज़ कहाँ रह जायगा?

और बाहरके जीवित चञ्चल वर्तमानमें हम सहयात्रियोंके चेहरोंसे जान-पहचान करने लगे थे। तब जाने कब अनायास मौसीने अपनी पुरानी गाथा छेड दी। • वे सुख-सोहागके मदमाते दिन जानें कहाँ चले गये? उनके पति तब बम्बईके शिवरी कॉटन-एक्सचेजमें रूईके दलाल थे। पाँच-सात सौ महीनेकी आमदनी थी। सान्ताक्रूभका वह जुहू-रोड वाला बंगला और उसकी पोर्चमें वह जापानी अगूरी बिजलीकी लालटेन मुझे याद हो आई। हर शनीवार नाटक-सिनेमाकी सैर उड़ती। नयेसे नये डिज़ाइनों और मॉडेलोंकी वेश-भूषा, सिगार, पाउडर-सेंट लवेंडर। टॉयलेटोंकी मीठी मोहक महकसे भरी, जीवनकी वे खुशबोदार, सोफियानी सध्याएँ, ऐशो-इशरतकी रंगीन, स्वच्छन्द रातें।

और एकाएक मानों अनेक बत्तियों और फानूसोसे भरे हुए विशाल भवनमें दीप-मालाएँ गुल हो गईं। आज मौसीकी जवानी ढल रही है। उम्र उनकी करीब पैंतिस-छत्तिसके होगी और मौसा शायद चालीस-बयालीस के होगे। उनके सन्तानविहीन जीवनमें एक सकरुण, अवसन्न उदासीनता है। एक तमन्ना दम्पतिके बीच सतत वेदनाकी मोमबत्ती-सी जल रही है। उनको जोड़नेवाला, कोई जीवन-सूत्र उनके पास नहीं है। मौसी औरोंके बच्चोंको लाकर उनपर अपने लाड़-प्यार उड़ेलती हैं, उन्हें नहलाती हैं,

केश-सँवारती हैं, अपने पाससे नये कपड़े पहनाकर मिठाई देती हैं। और यों अपने तरस-भरे हृदयकी विफल पीड़ाको चुपचाप अपने घरके एकाकीपनमें, अपनी छातीमें दफनाती वे चल रही हैं।. .बम्बईमें भारी कर्जदारी होनेसे उनके पतिका काम फेल हो गया था। इसीसे वे इस छोटे शहरमें आकर बस गये थे। आज उनके पति निर्धन हैं—एक रूई-जीनके मामूली दलाल—एक मिल क्लर्क। मौसीके कमरेमें पुराने दिनोंके दो-एक फ़र्नीचर अब भी जीवनकी विफल महत्त्वाकाँक्षाओंका मजाक करतेसे दिखाई पड़ते हैं......

और बात करते-करते मौसीने बहुत दूर, बाहरके गहन अंधकारमें कहीं जलती आग पर निगाह ठहरा दी। पानी उनकी आँखोंमें छल-छला आया था। उस समय वे अपने अनिश्चित और आश्रय अवलम्बनहीन भविष्यकी दुश्चिन्तासे व्याकुल हो उठी थीं। तभी बात करते-करते वे अचानक रुक गई थीं और बाहरके अंधकारमें ताकने लगीं थीं। .....ठीक उसी क्षण मेरे भीतरका तरुण, कामनाओंकी आकाश-बेल पर झूमता हुआ अपने भावी जीवनके रोमानी सपने बुन रहा था।

·· मौसीके चेहरेको दृष्टि गड़ाकर मैंने गौरसे देखा रूखे केशोंके बीच कुम्हलाये, रंजीदा मुख पर मर्त्य मानवके चिर असन्तोषकी दु खान्त कहानी मैं पढ़ गया। मेरा ज्ञान-विज्ञान, विचार-दर्शन पल भरको जैसे शून्यवत् होकर उस चेहरेके किनारे ताकता खड़ा रह गया। देखते-देखते भावीके आसमान पर चल रही वह मेरे जीवनकी चित्र लीला विलीन हो गई।...एक गहरे असन्तोष और अभावके शून्यमें जीवन नाना इच्छा-उमगोंसे तरंगाकुल है। किनारे पर सभी ओर परिणाममें एक विफलता है, निराशा है, व्यर्थता है। यह कैसी पराजय है जीवन मात्र की—कैसी अन्तहीन करुणा .

...और डब्बेमें आस-पास अनेक रूप-रंगोंके, ऊँची-नीची श्रेणिके मुसाफ़िर बैठे हैं। अनेक जीवनोंकी धाराएँ यहाँ आकर मिली हैं—इस गतिमान रेलके डब्बेमें। अपनी ही धुरी पर घूम रही धरतीको यह रेल मानो चारों ओर से परिरम्भणमें भर लेनेको उतावली हो उठी है। यानी धरतीकी गति पर रेलका शासन है—और दोनोंका वाहक-सचालक है मनुष्य ! और उसी

मनुष्यकी यह बेबसी ? नहीं यह झूठ है, यह ग़लत है, यह प्रमाद है, यह भ्रम है। यह मात्र मनुष्यका एक दुर्बल मोह है। दुःखसे वह लिपटा हुआ है, अपने हर क्षणका वह स्वामी नहीं है। बीतते हुए क्षणकी विफलता का पश्चाताप और भावी जीवनकी इच्छाओंकी मरीचिका--इसीका नाम है क्या मनुष्यका जीवन ?

दूर पर जंक्शन स्टेशनके बहुतसे सिगनलोंकी लाल नीली, हरी बत्तियाँ दिखाई देने लगी थीं। वनस्पति और जंगली फूलोंकी खुशबोसे भरी ठण्डी हवामें मेरा मन झूमने लगा था। ऊपर दीप्त तारोंसे भरे तरल आकाशमें मुझे अपने भावीकी नौका विजयके पथ पर अग्रसर दिखाई पड़ी। मैं उत्साहित हो उठा। और मुसाफिरोंकी भी सुस्ती उड़ी। एक स्फूर्ति और चञ्चलता सबमें दिखाई देने लगी।

लो यह स्टेशन आ गया। स्टेशनके विशाल हॉलकी ऊँची-ऊँची दीवारों पर बड़े बड़े हण्डोंमें बत्तियाँ जल रही हैं। यहाँ-वहाँ टँगे हुए नयेसे नये कला-प्रकारसे चित्रित विज्ञापनोंके पोस्टर जीवनकी नित-नवीन प्रगतिका बोध कराकर मनको अनायास उल्लसित कर रहे थे। मनुष्य अपनी प्रगतिका आप स्वामी है, वह सक्षम है और अनन्त शक्तियोंका धनी है। मेरे सारे सपने, कल्पनाएँ जीवनके एक विद्युत सत्यके आवेगसे फिर खिंच आये। वे सपने पिघल कर रक्तमें कर्मकी अनेक उत्तेजित, बहुरूपिणी धाराओं में लहरा उठे।

'पान बीड़ी माचिस' 'पूड़ी-मिठाई गरम'। मुसाफ़िरोंके उतरने चढ़ने का कोलाहल, कोमल-कठोर, वृद्ध-तरुण, रूप-कुरूप, वर्ण-वर्ण विचित्र अनेक चेहरे, अनेक वेष-भूषाएँ, मोहकताएँ, कुरूपताएँ सुरूपताएँ! मौसी जाने कब निःश्वास छोड़कर अपने दुःखोंको भूल गई थीं। उनके रंजीदा चेहरे पर भी एक मुस्कराहट थी और अपनी सकरुण आँखोंमें एक ममतामय प्रसन्नता भर कर वे मुझसे बोलीं—"हाँ रे नीतू, आज साँझ चलनेकी उतावलीमें तूने कुछ खाया नहीं, सो अब खाले। टिफिन निकाल कर खाना लगाती हूँ—कुछ नमकीन-मीठा जाकर ले आ—"

बालककी तरह हर्ष-चञ्चल मनसे मैं उठ बैठा। दोनों बर्थों पर अपने लिए और मौसीके लिये बिस्तरे बिछा दिये और कूदता-फाँदता जा धमका हलवाईकी दूकान पर। आवश्यक चीजें लेलीं, मौसीके लिये कुल्हड़में दूध और थोड़ेसे फल लेता आया—जिसमेंसे अधिकाश मेरे पल्ले पड़नेका मुझे पूरा अंदेशा था। व्हीलरके स्टॉल पर जा पहुँचा। 'हरिजन' की ताजा कॉपी और पेंगविन सिरीजमेंसे एच जी वेल्सका 'न्यू वर्ल्ड ऑर्डर' खरीद लिया। एक सन्त और स्वप्न द्रष्टा मेरे साथ हो लिये थे, मैं उनसे बात करनेको उतावला हो उठा था। डब्बेमे पहुँच कर एक बेचैन खुशीसे जल्दी-जल्दी मैं बहुत-सा खाना खा गया। और 'हरिजन' लेकर पढने बैठनेको प्रस्तुत हुआ ही था कि बहुत सी भीड एकाएक डब्बेमे आ गई। गाडीका यहाँ एक घण्टेका विश्राम है और उधर कोई नई गाडी आनेसे यह मुसाफिरोंकी आमद शुरू हुई थी।

आशासे अधिक गर्दी डब्बेमे होने लगी। उस किनारे दर्वाजोंके पास बैठे यात्री नवागतोंको रोकते थे और आनेवाले जबरदस्ती अपना सामान ठूँस रहे थे। बिस्तरे, ट्रन्क, स्त्रियाँ, बच्चे, कुली भीषण सघर्ष, कोहराम, कोलाहल मच गया। इस बीच अनेक साधु, अवारो और भिखमगोंके दल भी बिना टिकिट भीतर घुस आये। उन लोगोंने फर्श पर रास्तेमें ही डेरा जमाया। लैट्रिन तक जानेका मार्ग भी रुद्ध हो गया। कुछ भद्र-जनोंने इन अनपेक्षित माथे आ पडे मनुष्योंको बहुत कुछ कोसा, ललकारा, धक्के भी दिये। पर वे तो सड़कके पत्थरोंकी तरह अपनी जगह गड गये थे और टससे मस होनेका नाम भी नहीं ले रहे थे। सारी ठोकरोंके प्रति वे सदा प्रस्तुत थे।

इस बीच कुछ सभ्य, शिक्षित, व्यापारी तथा चुस्त-दुरुस्त दुनियादार लोगोंने अपनी सुख-सुविधाको अधिकसे अधिक विस्तृत कर अपना जाप्ता करनेकी सोची। एक पुराने परिचयके अधेड़ गुजराती सज्जनने मुझे टोंका। सद्भावनासे दो मीठी और नम्र बातें उनसे कीं तो उन्होंने मेरे ज़रा उठते ही नि सकोच, खिड़कीके पास मेरे बिस्तरे पर ही अपना आसन जमा लिया। मेरे आने पर खिड़कीका सहारा ले, हँसकर मुझसे बात करने लगे। मेरे

तकियेकी गिलाफ़ पर कसीदेसे काढे हुए, काँटोंका ताज पहने, लहू टपकते चेहरे वाले ईसाके 'एक्के होमो' चित्रको देख उन्होंने प्रसन्नता प्रकट की और उसके शिल्पीका परिचय जाननेको वे उत्सुक हुए।...घनिष्ट प्रसन्नता प्रकट कर अज्ञाता बहूको उन्होंने आशीर्वाद दिया। और यों अपनी समझसे घनिष्टताके स्निग्ध मक्खन पर मुझे फुसला कर उन्होंने अपने रात-भर सोनेका इन्तज़ाम साध लिया। जब जान गया हूँ कि ठगा जा रहा हूँ और जान-बूझकर ही अपनेको ठगा जाने दिया है, तो दु ख क्यों होता। पर सामनेवालेके अपने बुद्धि चातुरीके विजय-गर्वपर मुझे एक बड़ीही तरस भरी हँसी आती है और व्यंग भी अनुभव होता है। आस-पासके सभी व्यव-हार-कुशल मुसाफिरोंके अपने सुख-सुविधा पैदा करनेके उद्वेगपर बड़ी देर तक मुझे अनेक मज़ाक सूझते रहे। बड़ी तेजीसे एक जीवित कार्टूनोंका अलबम मेरे सामने खुलता जा रहा था। कई स्केचों, मुद्राओं और टाइपोंकी सामग्री दिमागके दराज़ोंमें जमा हो गई। अपने बर्थपर धक्कम-धुक्का करते मुसाफ़िरोंको अपनी भद्रताकी मर्यादामें सिमटा रह, बेदरकारीसे देखता मैं न रह सका, सो अपने बिस्तरेकी जगहको भी उनके साथ बटा लिया। सन्त और स्वप्नदृष्टाकी किताबें पढ़ूँ उसके पहले ही जीवनकी यह शोरभरी किताब मेरे दिमागपर आकर बरस पड़ी। चाहूँ या न चाहूँ, वह पढनेको इस क्षण मैं बाध्य था।

...और गाड़ीने सीटी देदी। तभी फाटक खोलकर काली कमली ओढे, हाथमें तम्बूरा लिये, एक कालासा सूरदास अन्दर घुस आया। अनेक ताड़ना, धक्के और गालियोंकी बौछारके बीच भी वह भीतर घँसता ही चला आया। आखिर गाड़ीका खुला दरवाज़ा भी एक मुसाफ़िरने हार-झींक कर लगा ही तो दिया। पहलेहीसे फर्शमें छाये पड़े अधनंगे गवारोंके बीच फँसकर सूरदास भी खिड़कीके पास ही खड़ा रह गया। इधरसे भद्रवर्ग उसपर घृणा और तिरस्कारकी झिड़कियाँ बरसा रहा है, गाली-गलौज दे रहा है, तो उधर वे उसके पैरोंमें बैठे पशु-मानव उसकी टाँगोंमें घूँसे मार-मारकर, चिमटियाँ लेलेकर उसे खा डालना चाहते हैं। पर सूरदास शून्यकी ओर

आँखें टिमकारता हुआ खामोश हँस रहा है। कुछ देर तो वह लाठी टेके पत्थरकी तरह, अडिग खड़ा रहा। फिर कुछ बुद-बुदा कर उन प्रहार करती गालियों और नोचते हुए नखोंके बीच वह नीचे धँसकर बैठने लगा—अपने उन बर्बर सजातीय बन्धुओंमे! बहुतसी प्रताड़नाएँ और आघात उसपर एकबारगी ही बरस पड़े। पर वह सब अभ्यस्त भावसे सहन कर रहा था। कभी अपने कपालमें बहुतसे सल डालकर वह कुछ बुदबुदा देता। नहीं तो एक खामोश ठूँठकी भाँति वह उन प्रहारोंके बीच फँसा हुआ था। उन निर्मम, शून्य, निर्विकार अंधी आँखोंमें बहुत-से गीजड़ और पानी बह आया है। आपका मन दयासे कातर भलेही हो आया हो, पर सूरदासकी वे आँखें दृढ़ था, आत्मस्थ थीं और नितान्त भावहीन थीं। जो भी वे आँखें रुदन करती सी लग रही थीं, पर वे तो रुदनका अचल चित्र बन गई थीं। उनके पीछे कोई हृदयकी आर्तता या रोना धोना नहीं था। वहाँ तो मृत्युकी अभेद्य बर्फानी शीतलता थी, निरुद्वेग शांति थी। ऊपरसे लगता है जैसे इस मिट्टीके ढेरके भीतर एक अकरुण, वितृष्ण, अविकल्प, निष्काम शून्यता है। पर देखो न, यह ऐसा सूरदास भी सब कुछ सहन करता हुआ, एक अटल सत्याग्रहीकी तरह जीवनके लिये, अपनी हस्तीके लिये लड़ रहा है।

और सरकते-सरकते बर्थके पास आकर वह एक मुसाफिरसे बोला—

"बाबा, तनक खसक जाओ, दुष्ट लोग बहुत दुःख देत हैं, हमहुका जरा ऊपर बैठाय लेओ।"

मुसाफिरको सूरदासके इस दुःसाहस और ढीठतापर बड़ा ही क्रोध आया। परे ढकेलकर अन्धेको जब उसने दो-चार फटकारें देदी, तो सूरदास और भी प्रबल औद्धत्यसे आगे बढा और अधिकारके कड़े स्वरमें बोला—

"इतना गुस्सा काहेको करता है बाबा? गाड़ी तेरे बापकी है?—तूही बैठेगा और हम नहीं बैठेंगे ..गाड़ी सबकी है . गवरमिंट सरकारकी है से भगवानकी है। तू बैठा है तो हमारेको भी बैठने देना पड़ेगा। तू मुसाफिर है तो हम भी मुसाफिर हैं। . दुनियाँ एक सराय है—मालिक यहाँ कौन

है ? अरे हाँ, ठहरनेको कौन आया है, सभीको एक दिन जाना है ।"

सूरदास यों अपनी सतवाणी छाँट रहे थे और ऊपर चढ़ आ रहे थे कि उस मुसाफिरने फिर तावमें आकर उसे जोरसे ठेल दिया। वह पीछे गिरते-गिरते बचा। नीचेके उसके साथियोंने अपने निर्दय झकोंपर उसे सम्हाला। फिर एक बार कटु शब्द बाणोंके प्रहार उसपर हुए और तड़ तड़ातड़ घूँसे उसकी पतली लकड़ी-सी कानी टाँगोंपर पड़ने लगे। सूरदास अपनी कमलीमेंसे किगरी निकालकर दोहा गाने लगा—

अजगर करे न चाकरी, पञ्छी करे न काम ।
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम ॥
तुलसी या संसारमें भाँति-भाँतिक लोग ।
सबसों हिलमिल चालिये, नदी-नाव संजोग ॥
दुरबल को न सताइये, जाकी मोटी हाय ।
मुई खालकी साँस सों, लोह भसम हुइ जाय ॥

चारों ओर खामोशी छा गई थी। और सूरदास चुप होकर बाहर ताक उठा। सामने गम्भीर सूरत बनाये एक मुसलमान सज्जन बैठे थे—उन्होंने सूरदासको अपने पास बिठा लिया। नीचेके उन हीन मानवोंको बड़ी ईर्ष्या हुई, पर उनका कोई वश न चला। सूरदास जब इतमीनानसे निरापद होकर बैठ गये तो अनेक उटपटाँग प्रवचन-उपदेश करने लगे, कथा-दृष्टान्त सुनाने लगे और बीच बीचमें एकाध दोहा गा उठते। मानो उनकी अन्धी आँखोंके बाहर जितने ये मनुष्य प्राणी उनके आसपास बैठे हैं, वे सब उनकी दृष्टिमें निरे मूर्ख हैं, और इन सबके बीच वही एक परम ज्ञानी हैं। सूरदासकी उपदेश-धारा चल रही है—

"बाबा, अहंकार बुरी बलाय है। मानके पहाड़पर चढ़कर मिट्टीका पुतला इतराता है। राखका बबूला देखते देखते बैठ जायगा। यह संसार महा असार है। यहाँ साथी-सगा कोई नहीं। सब स्वारथके संगी हैं। माटीसे उठा है सो एक दिन माटीमें मिल जाना है—इसका क्या गरब कीजे। खाली हाथ आया है और खाली हाथ जायगा—

राजा, राणा छत्रपती, हथियनके असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार।
दाम बिना निरधन दुखी, तृष्णा वश धनवान।
कौन सुखी संसारमें, सब जग देखा छान॥

फिर क्या तेरा और क्या मेरा। अरे हॉं बाबा, हमको नहीं बैठने देगा—और हमपर गुस्सा करता है। हम तो भगवानके हुकमसे चलते हैं—तुझे हमको बैठने देना पड़ेगा। नहीं बैठने देगा तो भगवान हमको अपने सिरपर बिठावेगा। देखो, बैठाया कि नहीं हरिके जनने ”

कोई पूछ बैठा "कहाँसे आ रहे हो सूरदास?"

"अरे भगवन, श्रीनाथजीके दरसन करके लौटि रहे हैं। उनका हुकम भया है सो मथुरा-वृन्दावनमें मनमोहनलालजीके दरसन करके, प्रसाद पायके वहासे हरद्वार जायेंगे, फिर आगे हुकम हुआ तो बद्री-केदार। राणाजीके एकलिंग देवका बड़-बड़े लड्डूका महाप्रसाद पायकर हमारी आतमा बड़ी तिरपत होय गयी है। और श्रीनाथजीकी लीलाका क्या बखान करें, बड़े भोग लागे खीर-मोहन थालके, बड़ी आरती-पूजा भई अखूट भण्डार भरे हैं, भगवानने प्रसन्न होयकर हमको बहुत धनमाल दे दिया है."

और बुझे हुए अन्धे काले चेहरेपर, सफेद दाँतोंकी पंक्ति दिखा, वह हीं हीं कर हँस दिया। फिर गाने लगा

ऊधो मोहे ब्रज बिसरत नाहीं।
हससुताकी सुन्दर कगरी औ कुञ्जनकी छाहीं।

आसपास कुछ लोग अपने सुख सुभीतेका सरजाम करके भोजन पर जुटे थे और साथ ही सूरदासकी बातोंका आनन्द भी लेते जा रहे थे। खानेकी आवाज और गन्धसे अनुमान लगाकर सूरदास बोले—

"बाबा, सब लोग भोजन करते हो अकेले-अकेले, और हमारा कल्याण नहीं करोगे तो कैसे चलेगा? भगवद्‌के जनको भोजन करायके प्रसादका पुण्य लूटो, बाबा। बड़े भाग तुम्हारे जो बिन बुलाये ही हरिका जन भोग

लेनेको पाय गये ”

एक तिलक-पगड़ीधारी वैष्णवजन बड़े इतमीनानसे बहुतसी जगह घेर कर, एक उज्ज्वल बढिया बिस्तरेमें बैठे भोजन कर रहे थे। भोजन समाप्त होते ही तुरन्त उन्होंने बची हुई पूरियाँ, तरकारी, लड्डू, दही एक छबड़ीमें इकट्ठा कर सूरदासको दे दिये। भोजनकी इहलौकिक तृप्ति और ऊपरसे दान की पारलौकिक तृप्तिका डकार भी एक साथ ही लेकर, वैष्णव पान लगानेका आयोजन करने लगे। आस-पासके मुसाफिरोंमेंभी उन्होंने पान-सुपारी, इलायची बाँटे। तब तक सूरदास अपना भोजन सम्पन्न कर चुके थे और छबड़िया उठाकर बाहर फेक दी थी। अपने ताबेके लोटेमें किसीसे मागकर पानी भी पी लिया था। पानोंकी मीनी-मीनी महक हवाकी लहरमें सूघकर सूरदास बोले—

“अरे हरिके जनों, पानका भोग सब कर रहे हो, क्या हमें पान नहीं खवावोगे—जय हो, भगवद्के जनोंकी—लाओ भाई पान देओ हमको भी—”

सूरदासने पान तो लिया ही, ऊपरसे इलायची, तमाखू, लौंग आदिका भी तीन बार माँग कर सेवन किया। अब लोगोंका खासा मनोरंजन हो रहा था। सूरदासकी इस ढीठ, वाचाल भिक्षुता और बभुक्षापर सभी हँस रहे थे, कोई उपहाससे, कोई घृणासे, कोई रंजित होकर।

इतनेमें पास ही एक सज्जन बीड़ी पीने लगे थे। धूम्रकी मादक गन्धको नाकदबाकर खींचते हुए सूरदास बोल उठे—

“अरे कोई माईका लाल हमें बीड़ीका दान नहीं करेगा। सूरदास भी बीड़ीका भोग करेंगे—भगवानका हुकम हुआ है—”

बीड़ी भी मिल गई। समझदार, दुनियादार सहयात्री हैरतमें थे कि यह सूरदास कितना उद्दण्ड, दुर्विनीत और दुरन्त भिखारी है मोहताज़ी जरा नहीं दिखाता, घिघियाकर नहीं माँगता, फिर भी पाजाता है। वह तो अधिकारके स्वरमे माँगता है, एक जन्म-सिद्ध आधिपत्यका निरभिमान, निर्बोध ज्ञान उसमें सतत जागरूक है। वह तो भोगयुगमें जीनेवाले मानवोंकी तरह कल्पवृक्षसे जैसे मनोवाञ्छित फल पालेता है। बिना भीति या अकुलाहटके निर्बाध कहीं भी घुस जाता है, मानो वह नहीं देख पाता है, इसीसे

मार्गमें बाधा कोई मानकर वह चलता ही नहीं । चारो ओरके प्रहारों और आघातोंके बीच स्थिर, निरंजन आँखोंको इधर-उधर घुमाते-टिमकारते हुए वह सब कुछ सह लेता है । पागलकी तरह वह अकारण, निष्प्रयोजन मुस्कराता ही रहता है । अपने गोलमोल, चेचकके दागोंसे भरे, कृष्ण-वर्ण भोले-शम्भूसे चेहरेपर, एक कनपटा सफेद टोपा वह पहने है । कपालमें चदनकी खोर पर गोरधन-नाथका तिलक लगा है । बगल-बगडीपर चौड़े पाड़की एक पछेड़ी है, और उसपर एक कमलीमें किंगरी दबाये है । दूसरे कंधेपर एक झोली पड़ी है । काले लोहे सी कुटी-पिटी, चमकती टाँगोंमें कोई चिमटी भरता है, कोई दाँत गड़ाता है और सूरदास एक विचित्र सनकी मुस्कराहटसे बुदबुदाता हुआ छतमें ताकता है । बीडीका कश जोरसे खींचकर धूआँ उड़ाते हुए उसने हँस दिया और बोला.

" आज बूटी नहीं छनी है और न दम ही लगाया है सब सूखा ही बीत रहा था, लेकिन देखो नदी-नाव सजोग, सो जजमानोंसे भेंट होय गई । हरिजनोंका सत्सग होय गया । सो भोजन-पान भी हुए...."

और भीतर ही भीतर प्रसन्न सूरदास मनही मन मुस्कराते जाते हैं । अचानक किंगरी बजाकर वे गाने लगे--

'कंचनका पिंजडा तोड़ उडो मोरे हंसा'

गर्दन उठाये, निवेदनोन्मुख, प्रसन्न मुद्रासे वह गा रहा है, और आँखों से निर्विकार पानी गीजडोंमेंसे निकला आ रहा है । गलेकी नसें खिंचती जाती हैं और अलाप बढता ही जाता है । रुदन और उल्लास दोनों उस स्वरमें विभेद और मर्मस्थ होकर डूब गये हैं । आस-पास बैठे यार लोगोंने हँसकर कहकहे लगाने शुरू कर दिये । चारों ओरके हँसी अट्टहास, फटकार-कोलाहल से डब्बा गूंज उठा । सूरदासका मुँह एक सकरुण मुस्कराहटसे फटा रह गया है और अखण्ड साँसमें आलाप खींचकर वह गाता ही चला गया । बीच-बीचमें हिचकी और कम्पनमें आवाज डूब-डूबकर फिर उठती है । रुदनकी गंभीर वापिकामेंसे उठ रहा अन्तरके आह्लादका जैसे स्वर हो । जाने कैसी निगूढ़ व्यथासे समस्त प्राणको वह उद्विग्न और व्यग्र कर देता है ।

तभी कहींसे दो चार आरामतलब, फैशनेबल छोकड़ोंने चिल्लाकर कहा—

"चुप भी रहेगा बे, गधेकी तरह बेसुरा रेंक रहा है—घटा भर हो गया खोपड़ी चाट रहा है चुप . चुप बे चुप "

और भी कुछ तानेकशियाँ, घृणा, ठुस्से और गालियोंकी बौछार ..

ज्यों-ज्यों चारों ओरकी रोक और तिरस्कार बढ रहा था, सूरदासके स्वरकी आल्हाद-वेदना तीव्रसे तीव्रतर हो रही थी। और बढते-बढते वह मानों बुक्का फाड़कर गा उठा। प्रलयके समुद्रका गर्जन जैसे उसके स्वरमें समा गया हो—और एक अनन्त आलाप तानसे वह गाता ही चला गया। धीरे-धीरे स्वर डूबने लगा और उसे हिचकियाँ आने लगी। और एकाएक वह धम्मसे चक्कर खाकर नीचे जा गिरा। गिरना था कि नीचेवालोंने आड़े हाथों लिया। दो चार खासे घूँसे उसकी पसलियोंमें पड़े। तब बड़ी जोरकी खाँसी उसे आई। खाँसते-खाँसते दोचार उबाक आये और तभी खिड़कीमेंसे मुँह निकालकर उसने बड़े ज़ोरसे कै करदी। आस-पास फँसे वे—मानव जन्तु बे तरह बिगड़कर शोर मचाने लगे।

तिलक-पगड़ीधारी वैष्णवने 'हरेकृष्ण हरेराम !' कहकर अपना विस्तृत बिस्तरा समेटा और उत्कट, असह्य ग्लानिसे आँखे मूँदते हुए मुँह फेरकर वे बिस्तरेमें दुबक गये। मेरे गुजराती बुजुर्ग जो कभीसे खर्राटे खींच रहे थे, जाग उठे और अँगड़ाई भरते हुए बड़बड़ाये—

"अभी तो देखते-देखनेमें कितना खागया है साला, बड़ा लोभीड़ा है साला खाधड़ा, नरकका कीड़ा—कितना खाता है—सबसे लेलेकर, जाने कितना खागया। वह पपैया, मूँगफली अट सट, कोई हिसाब है साला अब मरा, सालेको उलटी हुई हेकेनी ' इतनेमें वे फैशनेबल छोकरे चिल्लाये—

"अरे कॉलरा पैदा करेगा साला मरदूद...अगले स्टेशनपर इसे निकाल बाहर करो।"

गरम रजाईके सुखमें लिपटे वैष्णव, जो अब मुँह ढँककर सो गये थे, रजाईके भीतर ही से बोले—

"हाँ हाँ साहेब, बराबर निकालो साले पाजीको नहीं तो बिना मौत मर जानेकी दसा है।"

सूरदास लाचार था, खड़ा नहीं रह पा रहा था। सो धप्से बैठ गया। ठुस्से दे-देकर लोगोंने उसे फिर खड़ा किया। बमुश्किल तमाम थरथराते पैरों वह खड़ा हो गया। दो तीन आदमियोंने उठकर जबरदस्ती खिड़कीके बाहर उसका मुँह ठूँस दिया। बाहरको गर्दन लटकाये बड़ी देर तक वह खों खों कर थूँकता रहा। उसके झोलेमेंसे लोटा निकाल कर मैने थोड़ासा पानी अपने लोटेमेंसे उसके लोटेमें डालकर उसे थमा दिया।

"अच्छा-अच्छा, तू कौन है भगवद्‌जन ?" वह गदे, भरे मुँहसे मेरा हाथ टटोलने लगा।

अपनी जगह परसे ही मैं बोला—

"कुल्ला कर लो बाबा—जी अच्छा हो जायगा"

"अच्छा भगवन्, तेरा हुकुम—"

मुँह फेरकर उसने कुल्ला कर लिया।

अब सब अपने-अपने बिछौनोमे गरम हो-हो कर चिपट रहे थे, और विश्राम लेनेकी सोच रहे थे। सरदी बढती जा रही थी और सूरदास खड़ा खड़ा ठिठुर रहा था। टटोलता हुआ वह आगे बढा और एक बर्थका पिछ्वाडा पकड़ वह उसके सिरेपर टिकने लगा। एक रतलामी पगडी-धारी सेठ वहाँ बैठे थे—वे चौंककर ऐसे देखते रह गये जैसे पकड़ाईमें आ गये हों। सूरदासको ठेलनेका साहस वे नहीं कर सके और अपराधीकी तरह भयभीत, कड़ुवाहट से मुँह बिचकाकर रह गये। छटपटाये तो वहुत, पर बोल उनका फूटता ही नहीं था। सेठकी उम्र पैंतिससे कम होगी। गहरे-गहरे पानसे उनके ओंठ सियाह हो रहे थे। बढिया रेशमी कपड़ोमेसे हिना महक रहा था। ललाट पर बारीकसी एक बिंदिया वे लगाये थे। शौकीन मिजाज आदमी मालूम होते थे। अपने चारों ओर अच्छी तरह लपेटकर एक कम्बल और उसपर एक रज़ाई उन्होंने उस तरफ बढा दी थी, सो उनके उस ओर सोई एक स्त्रीने उसे ओढ़ लिया था।

आये थे तब एक निगाह इन यात्रियोको मैंने भी देखा था। स्त्री एक स्वस्थ, सुगठित शरीरकी, लम्बी, पूर्णांग सुन्दरी युवती थी। बढ़िया काली

छींटका एड़ी चूमता लहँगा, बिना क्लप-टूटा नये मोतिया पोतका लूगड़ा, जिसमें चौड़ा-चौड़ा गोटा लगा था। नये कराये माथा चोटीमें गोटेसे गूँथकर काढ़ी गई पट्टियोंके बीच सोनेका पेमली बोर झूल रहा था। बिंदियासे शोभित, सोहागिनीका यौवन-दीप्त चेहरा, जिसमे लावरयके गुलाबी भँवर पड़ रहे थे। लगता था कि कोई बेटी पीहरसे ससुराल चली है। गोरे-गोरे हाथों और पगतलियों मे बड़ी मेहनतसे बारीक मेंहदी रचाई गई है—जो सियाह पड़कर और भी मोहक हो गई है। कलाइयोमे गहने और पैरोंमे खन-खनाते चाँदी के आँवले नेवरी और बिछुए। जब आई थी तो छम छम करती हुई बड़ी देर तक सारे आबाल-वृद्ध मुसाफिरोंकी दृष्टि और मनका केन्द्र बनी रही। जाने कब वह बर्थकी पीठकी ओर मुँह फेर कर सो गई थी। पीठ पर पड़ी गोटेमे गुंथी चोटी, जो लुगडेके महीन पोतमेसे दीख रही थी, अब एक दुशाले से ढाँक दी गई थी।

और पायतानेकी तरफ बैठे ये सज्जन उनके पति ही तो होंगे। जितनी स्वतंत्रता, अमर्यादा और सुभीतेसे वे उस स्त्रीके साथ बैठे थे, उसमें कल्पना करनेकी भी गुजायश नहीं थी कि वे सज्जन उस स्त्रीके पतिके सिवा और भी कोई हो सकते है। पर इसी बीच उन्होंने उस लडकीसे पूछा—

"बाईजी साब...पाणी पियोगा काँई ?" बिना मुँह फेरे ही लड़कीने सिर हिलाकर इनकार कर दिया। तब तो समझमें आया कि यह तो कोई पीहरका सगा है—शायद कुटुम्बी। कि उसी स्टेशनसे आने वाले दो यात्री फुसफुसा रहे थे "ये ये तो धनराजमल सेठकी लड़की है—उनके गुमाश्ते ससुराल पहुँचाने जा रहे हैं"

सोचा, शायद भई होंगे लेकिन ये जो बैठे हैं .जिस तरह बैठे हैं ? हाँ, शायद, सुरक्षाका जिम्मा है, इसीलिए यह सब जरूरी है। उस युवती को उन्होंने अच्छी तरह सुला दिया है, और पैरोंके पास बैठकर रात-भर उन्हें पहरा देते हुए निकालना है। आप तकलीफ़ उठा लेंगे, लेकिन बाईजी साहे-बाको तो आराम देना ही होगा। और फिर पहरा देना भी जरूरी है—जमाना खराब है—लुच्चई और लफगई बहुत बढ गई है। सो बर्थकी पीठके इधके

पर गर्दन लटकाये, वे अधमुदी आँख किये हैं। एक हाथ उनका फैलकर वहाँ अन्दर उस गड्ढेमे डूबा है, जहाँ वह लड़की पीठ फेरकर सोई है। वह हाथ वहाँ अचचल नहीं है। विश्वस्त भावसे धीरे-धीरे वह चालित है और व्यस्त है। और कभी-कभी वहाँसे कोई सिसकी भी सुनाई पडती है अचानक! वह स्त्री कँप कँपाकर सिहर उठती है। और गुमाश्ताजी तो अँधमुदी आँखोंसे उँघ ही रहे हैं। लेकिन दूर-पासके लोगोकी दृष्टिया और कान एकाग्र, सतर्क वहाँ अटके हैं

बुड्ढे गुजरातीने आँख मारकर, हस दिया मेरी तरफ। मौसी भी जाग रही थीं, घोर ग्लानि और लज्जासे मुँह फेरकर उन्होंने ऊपरसे कम्बल ढाँप लिया।

. .सेठके पास ही बैठा सूरदास, खो खो कर रहा है—और इससे सेठ के आनन्दमे बड़ा व्याघात पहुँच रहा है। इस बीच हिम्मत करके दो-चार बार उन्होने उसे डाटा-फटकारा है—खदेडा है, पर वह कम्बख्त सरके तब न। कीलेकी तरह ठुककर वह बैठ गया है। गुमाश्ताजीके मुखकी सारी मिठास विरस हो गई—उसमे जाने कैसा कसैलापन आ गया है। सब ओरसे विश्वस्त, निर्द्वंद्व, बेखटके अपने सुखमे निमग्न सेठ अन्धे सूरदास से मानो भय भीत और त्रस्त हो उठे। सूरदास जैसे प्रेतकी तरह किलकारिया करता हुआ—खामोश आँखोंसे व्यग कर रहा था।

"उठेगा कि नहीं साले .उठ उठ उठ बदमास—गुडे...उठाईगीरे कहींके—" कहते हुए गुमाश्ताजी उसे हटानेको सन्नद्ध होकर खडे हो गये।

"इतनी देर हो गई भली तरह कहते—एक नहीं सुनता है साला—अभी साले बदमासको पुलिसके सुपरत करवाता हूँ अगले टेसनपर।"

पीठमे दो चार कोहनियोके ठूँसे खाकर आखिर सूरदास खड़ा हो गया और ललकारकर बोला—

"सो पुलिसके सुपरत करके हमारा क्या बिगाड़ लेगा। बड़ा आया धन्ना सेठी—नरकका राक्षस...दुष्ट दुर्जन है कोई, हरिका जन नहीं है—

जान पड़ता है रे, बनिया है कोई ?

लोग बड़ जोरोंसे हँस पड़े। सेठ दाँत किटकिटाकर बोला—

"क्या बकता है रे मुर्दे, पाजी कहींके, बड़ा आया है भगवद्-भगती-वाला, अबके कहे तो सालेको खिडकीमेंसे उठाकर फेक दूँ अभी ।"

"कहाँ फेक देगा ? जैसे धरतीपर तेरा ही राज है। कौड़ियोका हिसाब लगानेवाला, तू क्या राज करेगा ? राज हमारा है—हम राज करेंगे, साईंके बन्दे! उसने भेजा है हमे तेरे जैसे दुष्टोकी खबरदारी करने ।" सेठ किसी तरह मन मसोसकर बैठ गये—और लगे फिर ऊँघने जान बूझकर। गुस्से और भयसे हाथ-पैर उनके अभी भी थरथरा रहे थे।

इतनेमें एक छोटा सा स्टेशन आ गया। "चाय गरम चाय बमनिया " सूरदास बोले "अब तो बाबा चाय मिलना चाहिए ..अहा-हा हा, वैष्णवजन चाय नहीं पिलाओगे ?—सरदीकी बेलामे—शरीर गरम हो जायगा—रोग-विकार सब टल जायगा।" और बाहर झाककर बोल उठे—

'ऐ ऐ लाओ चाय बमनिया सूरदास चाय पियेंगे।"

चायवाला कप-बसी देकर सरक गया। बड़ी तृप्तिकी चुसकिया लेते हुए सूरदासने चाय पिया। चायवाला दो बार झाँककर पैसे माँग गया—कौन उत्तर दे ? सूरदास तो पान सुपारी जुटानेमे लगे थे। एक अजहद पान खाने वाले भोपाली करण्डी खोलकर बैठे थे। सूरदास जब पान खा चुके तो सुरती की भी तलब हुई—वह भी पूरी हुई कि इतनेमे चायवालेने किंवाड खोल कर सूरदाससे कहा—

"पैसे लाओ न बाबा . !"

"पैसे हमारे पास कहाँ ? माईके लाल देंगे। ..पैसा माया है और माया हम अपने पास नहीं रखते—पैसा सरकारसे माँगो—बनियेसे माँगो—अरे हाँ, हम तो भगवान्के हुकुमसे चलते हैं "

"हरामका आता है ..नहीं पैसे थे तो नाक चूता था चाय पीनेको—"

सूरदास खिलखिलाकर हँस पड़ा। उसके हाथसे कप-बशी झपट, दाँत किटकिटाकर, गुस्सा पीता हुआ चायवाला सरक गया। इतनेमें कोई मूँग-

फलीवाला निकल आया । सूरदासने गरम-गरम मूँगफलियाँ ले लीं और छिलटे फैला फैलाकर खाने लगा । इतनेमें गाडी चल पडी और मूँगफली-वाला पैसोंको चिल्लाता ही रह गया ।

सूरदास गाने लगे—

'अजगर करे न चाकरी . '

इस बार गाते गाते सूरदास बहुत ही उद्धत हो पडा और बडी विकट तानोंसे इतरा-इतरा कर गाने लगा । लोगोंके विश्रामका समय था—सो इस बार सभीका धैर्य टूट गया। चारों तफसे लोग टूट पडे। वे सूटधारी विद्यार्थी शोर मचाते-चिल्लाते आ धमके और लगे उसका हाथ मरोड़ कर उसे नताडने—

"रासकिल कहीं का, डेविल साला—दो घटे हो गये हैं कमबख्त सिर खाये ही जा रहा है—क्यों बे चुप रहता है कि नहीं उल्लूके पट्ठे । सालेने तमाम तो हवा खराब कर छोडी है—प्लेग कहीं का । ठहरजा अभी अगले स्टेशन पर पुलिसके हवाले करता हूँ—"

इतनेमे एक दूसरा आ धमका और उसकी गर्दन पकड कर बोला—

"क्यो बे टिकट कहाँ है तेरा बिना टिकट चलता है बे सूअर । मन भर सालेको खानेको चाहिये हरामका—बड़ा तिकल-छापा लगाके भगत बन गया है ।"

वे छोकड़े उसे झकझोर खदेड़ कर उसकी जेबे तलाश रहे थे कि इतने ही में फतेहाबादका स्टेशन आ गया। एक टी टी को आवाज़ देकर उन्होंने बुलाया और शिकायतकी कि यह अन्धा बिना टिकट है—सारे डिब्बेके मुसाफिरोका इसने नग कर रक्खा है, उतरवा देंगे तो बडी कृपा होगी ।

टी. टी ने सूरदासको झझोड कर उसका कान मरोड़ते हुए कहा—

"क्यों बुड्ढेजी—यहाँ बैठने दिया तो ऐसी हरकत कर रहे हो—उतार दूँगा बेटा जो हरकतबाजी करोगे—समझे—"

जाते-जाते टी टी. उन भद्र-जनोंसे कह गये . कि दो स्टेशन चला जाने दो, यहाँ सरदीमें ठिठुर कर मर जायगा तो हत्या आयेगी ।

सूरदास आश्वस्त भावसे बोले—

"हमको उतारेगा बाबा, गाड़ीसे ! गारड क्या, गारडका बाप भी हमको गाड़ीसे नहीं उतार सकता। गाड़ी किसकी है—मेरी है—मेरे बापकी है—सबके बापकी है—अरे मूर्खा, भगवान की है यह रेल-गाड़ी जो जगतमे दिन-रात चल रही है! तुम बड़े आराम आरामसे बैठोगे और हमको कैसे उतार दोगे ?"

किसीने पूछा—

"कहाँ जाओगे बाबा ?"

"इन्द्रनगरके महरमे—वहाँ के राजाके 'सुख निवास महल' के शिव मन्दिरमे हमारा अस्थान है। तुम हमको क्या तुच्छ समझता है—हम तुमको आदमी नही—मच्छर, कीट-पतग समझता है—रोज मरते हो—फिर-फिर जनम कर फिर मरते हो। अरे हमको कोई रेलसे उतार देगा—ब्राह्मण को ! राजा अगर हमारा अपमान करे तो उसको भी हम गादीसे उतार सकते हैं—उसका सिघासन उलट सकते हैं। हमको कोई सताप देगा तो हमारे सरापमे वह छिन भरमें भसम हो जायगा। हम तो दया करके तुम पर कोप नहीं करते—यह समझकर कि अज्ञानी है तो क्या हुआ—हरिका जन है . । अरे हाँ, कुपित हो जाये तो हम राजाके महलको गिराकर उसमे आग लगा सकते हैं। तू हमको क्या समझता है, छोकरे, हम साधू-सत हैं, कि कोई मामली जन हैं ?"

"अबे ओ खब्बीस, चुप रहना है कि फिर पुलिस को ही बुलाना पड़ेगा।"

सूरदास किलकारी करके हँस पड़ा—

"पुलिस क्या काट लेगा हमारा !—पुलिस क्या राजाको बुलाओ—सहसाहको बुलाओ—सिव-सकरके तिरसूलमे पिरोकर सबको टाँग दूँगा ! ताण्डव-निरत करने लगूँगा तो अभी परलय आ जायगा और तुम्हारे राजा, रेल, पुलिस—और तुम सबके सब उड़ते फिरोगे उसमें, समझे ! देखो, मत दिलाओ रोस, मत दो त्रास सन्तको, मान जाओ कहना।..."

कह कर सूरदास झूम झूम कर किंगरी बजाता हुआ नाचने लगा—

"बम-बम भोला, जय शिव शंकर

जय प्रलयकर, रुद्र दिगम्बर ."

इतने ही मे स्टेशन आ गया। दो-तीन यात्री जाकर एक दो पुलिस-वालोंको बुला लाये। सूरदास झूम-झूम कर प्रचण्ड स्वरमे गा रहा था और बेखबर, बेइख्तियार नाच रहा था। एक रुद्र, प्रसन्न रोषसे उसके नथुने फड़क रहे थे।

पुलिसवालोने बिना कुछ बोले ही, चुप चाप उसे पकड़ कर नीचे खीचा। वह डिब्बेमें टकराता था, पछाड़ें खाता था—और, और भी भीषण होकर गा रहा था...कौन है जो उतार सकेगा उसे—जो उसे वहाँसे हटा देगा? उस पर कौन शासन करेगा?—अपना शासक आप जब वह हो गया है

गार्डीने सीटी दे दी। धक्के देकर पुलिस वालोने उसे उठा कर बाहर डाल दिया।

...गाडी चल पड़ी। मै खिडकी पर आनेके अपने कौतूहलको रोक नहीं सका। बाहर झाक कर देखा सुनसान विस्तृत प्लेटफॉर्म, भयानक शीत और तीर सी ठण्डी हवाएँ, और चारो ओर अन्धकारसे भरी महारात्रि जगलमे झांय-झाय कर रही है। दूर पर स्टेशनकी एक अकेली बत्ती अकम्प, करुण लौसे जल रही है। सूरदास चुपचाप उठ कर खडा रह गया। उस अधकार में निरभियोग, शून्य, स्तब्ध, एक ही दिशाकी ओर मुह उठाये वह आकृति अचल है जो कह रहा था—

.उसे कौन उतार सकेगा? वह राजाको गद्दीसे उतार सकता है—सिंघासन उलट सकता है—महलोमे आग लगा सकता है .

वह खडा है अचञ्चल, निस्पन्द, नि शब्द, आश्वस्त, एकोन्मुख। उस अधकारमे उसके एक ओर सिघासन, विभव, सत्ता-अधिकार, सोना चाँदी, मणि-माणिक आदि अपार भोग-सामग्रियोंका ढेर है, और उसके दूसरी ओर अनन्त भूख, अभाव, रोग शोक, तृष्णा बुभुक्षा, हिसा-युद्ध, दुर्भिक्ष-महामारी, अपरिसीम दु ख-दारिद्रय, जरा-मरण फैले पडे हैं

और बत्तियोंवाली रेल-गाड़ीमें मैं, मौसी तथा अन्य सहयात्री अपने-अपने कम्बल-रजाईमें मुंह ढँके, अपने अपने सुख दुखोंमें लिपटे, घिरे, बद-विवश चले जा रहे थे कि चले जा रहे थे

५

अभिषेक

उन फ्लौसके बड़े अमीरोंके शुभ्र विशाल भवनके अन्त पुरकी मर्मरो-ज्ज्वल छतके बीचोंबीच, उस पाषाण-गठित चबूतरेपर वह तुलसी-वृक्ष एक चिर-कुमारी कल्याणी-सा खड़ा था। वैशाखकी मेंहदीसे महकती पीली-अँगूरी सन्ध्यामें एक वयस्का बालिका आँचलमें दिया ढाँके आती, उस तुलसी चबू-तरेपर दीपदान करती, और उस विधवाके मन-सी तब पूत हो उठी सन्ध्याकी पीठिकापर वह बालिका छाया-चित्र-सी मस्तक अवनत कर तुलसीका वन्दन करती और चली जाती।

सुनील उन दिनों वे सन्ध्यायें छतपर ही बिताया करता था। कैशोर्यको पारकर वह वयके उस चरणमें आया है, जब जीवन रोमासके आकाश-झरोखे-पर आ बैठता है, और जब कल्पना सुफेद पक्षियोंके पखोंपर बादलोंमें घर बनाती चलती है, यों कहें, जब जीवनमें एक Sweet melancholy मधुर-म्लानता व्याप्त रहती है, जब किसी राजमन्दिरकी आकाशकी नीलिमामें तैरती अटारीके झरोखेपर सन्ध्यामें खड़ी वयसं प्राप्त प्रेम-पीड़िता राजकुमारी

के मनकी बात जाननेको मन व्याकुल हो उठता है। तो वयके इसी चरणमें सुनील था। शैलीके Lyrics को फर्शपर फेंककर वह देखता रह जाता—सामने वह श्वेतोज्ज्वल साड़ीमें लिपटी कुलीन बालिका उस तुलसी-चबूतरेपर दीप-दान कर सिर झुका रही है।

छुट्टियाँ पूरी हुईं और मनके कोनेमें किसीकी छुपी छुपी सी दर्द भरी याद बसाये सुनील शहरके कॉलिजमें पढ़ने चला गया।

अगली गर्मियोंमें जब सुनील लौटा तो वे सन्ध्यायें सूनी ही बीतती। जाने किस गहरे अभावसे भारी भारी, वह तुलसी उस सुनहली सन्ध्याकी पीठिकापर अँधेरा बिखराती, उस चबूतरेपर वैसी ही खड़ी थी। उसके आस-पास किसीकी मौन याद मँडराया करती है। और स्निग्ध पंखोंसे उस सान्ध्य पीलिमामें खोती-सी वह चिड़िया सुनीलके मनके मनकी बात जानती होगी?

दूसरे ही महीने सुनीलके घरवाले वह मोहल्ला छोड़ जयागजके अपने सदर बाजारवाले मकानमें रहने चले गये

× × ×

उसके छः वर्ष बाद।

सुनीलके बाबूजीने नील और जूटके व्यापारमें खूब धन कमाया। समृद्ध होकर सयोगवशात् उन्होंने वही अमारोंका विशाल भवन खरीद लिया, जिसके पड़ोसमें कुछ वर्षों पहले वे लोग रहे थे, और अब वहीं रहने लगे थे।

सुनील एक अत्यन्त लावण्यमयी, प्रतिष्ठित कुलकी लाजशीला कन्याको ब्याह लाया था। इसी घरमें हजारों रुपया खर्च करके बड़े राजसी ठाट बाटसे उसका विवाह हुआ है।

वैसी ही मेंहदीसे महकती माधव ऋतुकी सन्ध्यामें उसकी पत्नी रूपश्री तुलसी चबूतरेपर दीपदान कर वन्दन कर रही थी—सन्ध्याकी पीठिकापर वैसी ही छाया-मूर्ति सी।

सुनील कक्षकी खुली खिड़कीके पास बैठा मुग्ध सान्ध्यच्छटाको विमग्न दृष्टिसे देख रहा था, कि सहसा बाहर छतकी तरफ नजर गई।

उस अवनत मस्तक धुँधली छाया-मूर्तिकी कुहनीसे सन्ध्या झाँक रही

है। . जाने किस सुदूर अतीतकी पुरानी-सी व्यथासे मन भर गया। वनकी एकान्त पग-डण्डीपरसे आती हुई किसी ग्राम-बालाकी करुण रागिनीमे भरकर जाने किसकी याद उसके मनमे आ गई। सुनीलने तकियेमें मुँह गडा सन्ध्या-तारामे दृष्टि खो दी। क्या वहाँ रहने चली गई है वह—जाने कितना दूर—आह! क्या उसका सुदीर्घ व्यथा-सिक्त उच्छ्वास वहाँ पहुँच जायगा, उन चरणोंको भी छूने ?

और उसकी आँखे सजल सजल हो उठी, एक बूँद शायद अनजाने ही तकियेपर ढुलक पडी।

रूपने पास आते हुए पूछा—"क्यो उदास मन सोय हे ?"

सुनकर सहसा एक चेतना स्पर्शके साथ सुनीलको लगा कि उसका गाल गीला है। योही जरा तकियेमे मुँह टक झटसे पोछ दिया और आँखें मलता-मलता उठ बैठा। रूप निकट आकर बैठ गई और फिर बोली—

"आज क्यों मुँह उदास लगता है ?—न कहेगे मुझसे, क्या बात है ?"

"कहाँ—कुछ भी तो नहीं ?"

उस व्यथाकी छायाको उसने बनावटी मुस्कराहटसे छुपाना चाहा।

"ये आँखें क्या छुपाये छुप सकती है, चाहे जितनी चोरी करके भी अपने मनकी बात मुझसे तो न दुरा सकोगे!"

'चोरी' सुनीलके हृदयके स्तर-स्तरको छेदकर प्राणोमें गूँज उठा। सुनील ने सुख-विह्वल हो उसे चूम-चूम लिया और कहा—"बस, जान लिया न अब तो ? इसके आगे और कौन-सी बात जाननी है तुम्हें मेरे मन की . "

रूप लज्जा-विनम्र हो पहले तो झुकी रही, फिर सजल आँखोको ऊपर उठाकर कहा—'हाँ, मुझे इससे भी आगेकी बात जाननी है—तुम्हारे मनकी-बहुत दूरकी—न कहोगे मुझसे ?"

सुनीलका हृदय आषाढके बादलो-सा भर आया। उसने काँपते हाथसे रूपकी वह गोरी बाँह थाम ली और उसकी गोदमे सिर रखकर बडे स्नेह-करुण स्वरमें मनका वह पवित्र पाप उसे कह सुनाया। और रूप 'इनके' उस पावन अपराधको झेल रही थी—अपने सुहाग-कुकुमकी डिबियामे, अपनी चुनडीके प्यारभरे अचलमें। उसने अपनी सुकोमल उँगलियोंसे सुनीलकी आँखें

पोंछते हुए भीगे स्वरमे कहा—"क्या तुम्हारी उस देवीकी पूजा करनेका अधिकार मुझे नहीं हो सकता, जो उसकी बात मुझसे छुपा रहे थे ?"

'कैसी भोली बाते करती हो, रानी मेरी !" उसने गदगद स्वरमे जरा उल्लसित होकर कहा।

"ना, उस देवीके सिंहासनपर तो मेरा अधिकार नहीं, पर उसकी पुजारिन-दासी बनकर तो मै जरूर रहूँगी।"

सुनीलने हर्षसे उछलते हुए चुप-चुप कहकर उसका मुँह बन्द कर दिया और कहा—'मेरी पगली रानी!"

× × ×

और दूसरे दिन वैसी ही साँझमें रूप तुलसी-चबूतरेपर दीप चढा रही थी, सुनील दरवाजेकी चौखटमे खड़ा मुग्ध दृष्टिसे उसे देख रहा था।

रूप आज बड़ी देरतक भूमिपर गिरकर तुलसीकी वन्दना करती रही। ज्योंही वह उठी, पीछेसे किसीने थाम लिया और कहा—"देवी मेरी!"

"ना, तुम्हारी देवीकी दासी—यह तुलसी साक्षी तुम्हारे उस पहले ."

वाक्य पूरा होनेके पहले ही सुनीलने एक दिव्य उल्लाससे भरकर रूपके मुखपर चुम्बनोंकी झड़ी लगादी। और एक आँसू उसकी आँखसे टपककर गिर पड़ा रूपके गालपर।

हाँ, यही रूपका रानी-पदपर अभिषेक था—जो सुनीलकी देवी आज साँझ आकर मौन-मौन कर गई।

६

किसका नेतृत्व?

सारी दुनिया मानो आज उसके लिए अर्थ खो बैठी थी। उसके हृदयमें आज प्रलय आया था। जगत्के नाना-विधि वस्तु-व्यापारोंसे भावना और विचारोंके उसके जो सम्बन्ध थे, वे छिन्न-विच्छिन्न हो शून्य बन-बनकर उसकी आखोंमे चक्कर काट रहे थे। सत्य, सौन्दर्य, स्नेह, पवित्रता, नैतिकता, आदर्श—ये सब इकाईहीन शून्य हैं? सर्वथा मूल्य-हीन भौंरो? गाड़ीके पहियोंकी तरह ये पुरानी लीकके गाड़ी—गढारमे व्यर्थ चक्कर काटते चल रहे हैं! इनमे कोई प्रयोजन नहीं—कुछ अभीष्ट नहीं?

उसकी आत्मा मानो आज खो गयी थी और उसका प्रेत उसके आत्म-स्वातन्त्र्यके आदर्शकी खिल्लियाँ उड़ा रहा था।

...दिन भर अपने होस्टलके कमरेमें पडे-पडे उसने पछाडे खायी हैं, सिर पीट पीट डाला है। सत्य और सौंदर्यका ऐसा विकृत रूप? मानों वे किलकारियाँ करते भयानक दाँतोवाले राक्षस हो उठे थे। एक बालक सपनोंके रमणीय परी-देशको खोकर, अँधेरेमें जैसे बिलबिला उठा हो।

उसके प्यारका वह छोटा-सा चमन वीरान हो गया। वह बुलबुल, वह मस्त तराना 'नहीं नहीं सहा जाता। उस मृदुल मुखड़ेकी वह मुस्कानकी रेखा—वह देवबाला सी ओह, कहाँ—उसकी आँखोंमें तो यह क्रूर दानवता हँस रही है।

...हँसी-खुशीमें झूमती-इतराती दुनिया मानों चक्री-सी उसकी आँखोंमें घूम रही है। चमकते, फरफराते, कोमल अङ्गोंपर फिसलते, हलके फेन-कुसुमोंसे लहराते, रेशमी, जॉर्जेटके साड़ी-ब्लाउज, रूप यौवनकी चौंधियानेवाली मृग-माया, वायुमें घुलती टॉयलेटोंकी उन्मत्त गन्ध, लाजवाब सूटोंसे दमकती और चञ्चला रमणियोंके हास-विलाससे गूँजती हुई मोटरें सरपट निकल जातीं।—उसके मस्तिष्कको पार करती हुई जैसे कोई गोली निकल गयी हो। लखनऊके पार्कोंकी ऐसी रंगीन, शोख, चुलबुली सन्ध्यासे गुजरता हुआ, वह यहाँ चला आया है। गाफिल शराबीकी तरह बेखबर लड़खड़ाता हुआ, शहरके राग रंग कोलाहलसे दूर-बहुत दूर गोमतीके किनारे वह आ पहुँचा। धक्के ठोकरें खाता, राहगीरोंसे टकरा कर अपमान, झिड़कियाँ सहता, मोटरों-गाड़ियोंसे किसी दैवी सहायतासे बचता, मानो यन्त्रवत वह यहाँ आ पहुँचा था।

नदी-तटके निर्जन बालुका-प्रान्तमें निश्चेष्ट, चेतना हीन सा वह पड़ा है। समुद्रके किनारे पड़े फूटे शङ्खमें रोदनकी तरह गूँजनेवाले सागर-गर्जनकी भाँति, दुनियाका वह सारा आनन्द-हास्यसे भरा कोलाहल उसमें जाकर मानों आर्त क्रन्दन बनकर फूट रहा था। आस-पासकी शान्त प्रकृति जैसे हाहाकार कर रही थी। वैशाखकी तन्वंगी गोमतीकी प्रशान्त, स्निग्ध, मन्थर लहरें—और दूर किनारेपर युकलिप्टसकी श्रेणीमें सरसराती हवाका मृदु रव—

प्रणयके प्रथम वसन्तकी वह सन्ध्या जयन्तको याद आ गई, जब अपनी ऊर्मिके लज्जावनत मुखको उसने धीरेसे ऊँचा उठा दिया था और वे भर-पूर खुली लीला चचल आँखें, बचपनके कौतूहलसे उसे देख उठी थीं। उन नीलम-सी घनश्याम आँखोंका वह निर्मल तरल सौंदर्यालोक! उस मुस्कानकी वह देव बालाओं-सी शुचिता! भावुक जयन्त सुखातिरेकसे विह्वल

हो, उसकी दोनों भुजाओंको पकड़कर कह उठा था—"ऊर्मि, तुम तो चिर कुमारिका हो—तुम्हें छूकर, तुम तुमपर अधिकारकर मैंने चिरन्तन सौन्दर्यकी अवमानना की है !" बालकों सी निर्दोष उसके प्यारकी वे शपथे, जिनके विश्वासपर वह गर्वसे इठलाता, इतराता घूमता था। हॉ, आज वे मासूम आँखें, वह मुस्कान, वह भोलापन, वह पवित्रता, सब लुट गये—नष्ट हो गये। ऐसी भयानक विकृति—' विष-बुझे अन्तर्बाणकी तरह मिथ्याका एक व्यग, एक मर्मान्तिक आघातसे उसकी आत्माको घायल कर गया। "••ऊर्मि• नरकोंके अनेक द्वार मेरी आत्मामे खुलते जा रहे हैं—और आज वहीं तुम्हें खोजने जा रहा हूँ—। मै आज किस पर विश्वास करूँ—? सब कुछ मिथ्या हो गया है—तुम्हारी मुस्कानकी शुचिता मेरे हृदयपर सॉप बनकर लोट रही है। तुम्हारा वह चिर-कौमार्यभरा सौंदर्य मेरी आत्मामें विष घोल रहा है ? सभी कुछ तो काला, कुरूप, विषाक्त, भीषण हो उठा है। इस सबमें तुम कहॉ हो, ऊर्मि मैं—मैं रो-रो कर हार गया हूँ,—छील-छील डाला है हृदयको—पर स्वर्गका वह फल कहाँ है—विषका कुम्भ जैसे फूट चला है। हिंसाका यह कैसा रक्त है ?—अरे ऐसा सर्वनाश ! रमणीक, तुम—तुम आज इतने अपरिचित, ऐसे अजीब, भीषण, राक्षस हो उठे•••कॉमरेड रमणीक !"

*   *

जयन्त और रमणीक दो विभिन्न शक्ति स्रोतोकी एक सुसवादित, सुन्दर जीवन-धारा थी। मानो एक पूर्ण व्यक्तित्वमे—दो परस्पर पूरक शक्तियोंका आदर्श समन्वय हुआ हो। सिद्धान्तकी दो विभिन्न खिड़कियोंसे वे क्रान्तिके लक्ष्य-क्षितिजका दर्शन कर रहे थे। पर अपनी-अपनी खिडकियोसे लक्ष्यका एक ही ध्रुवतारा देखते हुए उन्होने कितनी ही बार प्रगतिके प्रसन्न वेगमें हाथ मिलाये हैं। जयन्त आत्मा थी तो रमणीक उसकी अभिव्यक्तिका साधन शरीर था। जयन्तकी आत्माका तेज आवश्यकता पड़नेपर रमणीकमे आग्नेय रूपमें प्रकट होता था। एक समयके अत्यन्त उग्र, ultraleftist, भयकर मार्क्सिस्ट, खूनकी नदीके पार ही आदर्श देखनेवाले रमणीकने बड़े ही विनम्र

भावसे जयन्तके बापूके अहिंसात्मक क्रान्तिपथ पर चलनेका व्रत स्वीकार कर लिया था। पर नवीन संस्कृतिके आत्म-स्वातन्त्र्यके वे दोनों ही दीवाने थे। स्वातन्त्र्यके खतरनाक, ऊर्ध्वगामी दुर्गम मार्गो पर वे आरूढ थे। अपने सपनोंके कैलास-शिखरकी ओर वे तेजीसे बढते चले जा रहे थे। जयत और रमणीक मानो प्रगतिके आकाशमे एक ही दण्डपर फहरानेवाली क्रान्तिकी दो मगल ध्वजाएँ थी, एक लाल और दूसरी सफेद।

व्यक्तित्वोंका यह समन्वय जीवनके प्रगाढ स्नेह-सम्बन्धोमें भी पल्लवित हुआ था। विश्वासकी पूर्णताके काँटेपर सतुलित वे दो जीवन, एक दूसरेको खूब ही सुप्राप्त, सुप्रकाशित, और एक दूसरेसे खूब ही आश्वस्त थे।

और एक बासन्ती सवेरे जयन्तकी जीवन वन्शी ऊर्मि आ गयी। घरके मगल-तोरणके द्वारोंको पार कर आयी वह रमणीककी ऊर्मि भाभी। सत्य-शिवके बीच यह सुन्दरमूका दिव्य आयोजन हुआ था। प्रेरणाकी तेज-शिखा-सी वह दोनोंके बीच जल रही थी। दिन बीतते जाते थे। व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास उन जीवनोंकी मानी हुई शर्त थी। अपनी इच्छाओं और शक्तियोंके मुक्त प्रवाहमे जीवन निर्बाध बह रहे थे।

रोम रोममे अगारे उछालनेवाली विदेशी क्रान्तियोंकी रोमाञ्चक कहानियाँ सुना कर रमणीक ऊर्मिको चकित कर देता, हिला-हिला देता। वह स्तम्भित, कीलित रह जाती। सभीत कौतूहलकी आँखोंसे रमणीकके आग्नेय रूपको वह ताकती रह जाती—मुग्ध और विस्मित। पर तभी सहसा उसकी दृष्टि, मानो नील गम्भीर सागरके पूर्व क्षितिज पर उदय होते बालसूर्यसे शान्त अपने जीवन-देवताकी ओर उठ जाती। उसकी आँखोमे आँसू छल-छला आते। हाँ, इन शक्ति-श्रोतोंके सघर्षके बीच प्रेरणाकी प्रतिमा बनी बैठी इस तेज-मूर्तिमें, एक मानवी नारी भी अपने जीवनकी बेबसियोंमें उलझ कर लड़ रही थी।

पर जयन्त खतरेको प्यार करता था। मृत्युके मुखसे गुजरनेवाले मुक्ति-मार्ग पर आरूढ़ होकर अपने लक्ष्य-ध्रुवकी ओर बढ़ते ही चले जाना उसके जीवनका अनुष्ठान था। उसके बापूका 'हिंसाके मुखमें अहिंसा' वाला मन्त्र

उसके कल्पनाशील मनमे अनेक रोमांटिक अर्थोंमें फूट पड़ता था। हाँ, उसे एक रात सपना आया था—विराट नील शून्यमें, एक खतरनाक पर्वत-शिखरके एकाकी कँगूरे पर रमणीक और ऊर्मि खड़े हैं। वे हँस रहे हैं—उल्लाससे किल-किला रहे हैं। पर वे इस नील शून्यकी आतंकशाली उन्मुक्तता में कूद पड़ना चाहते हैं।... .उस दिन सपनेमें उन्हे यो मुक्त आकाशके किनारे झूलते देख कर जयन्त प्रसन्नता और प्रगतिके उल्लाससे हँस पड़ा था।

कई बार जब ऊर्मि रमणीकसे आवेशपूर्ण क्रान्तिकी कहानियाँ, उसके भूकम्पी दावे, घोषणाएँ और सकल्प सुन कर लौटती, तो उसके और जयन्तके बीच अनायास ही एक सघर्षपूर्ण, प्रक्षुब्ध, गंभीर मौन व्याप्त हो जाता। आखिर वह बेबस हो जाती और जयन्तके पैरोंसे लिपटकर रो पड़ती। उसकी छातीमें मुँह टक गहरी-गहरी सिसकियाँ भरने लगती। इन दो विषम तारोंको एक ही उँगलीके स्पर्शसे बजाकर जीवनका सुसवादी सगीत पैदा करते रहनेकी इस खतरेभरी साधना पर उसकी उँगली काँप उठती थी। अपनी विवशताके आवेदनसे वह कातर हो जाती थी। इसीलिए कई बार रात्रिके एकान्तमें, मनके पद्मासन पर आसीन जीवनके आराध्यके चरणोंमें वह आत्म-निवेदनके पावन आँसुओमे बिखर पड़ती। वह मन ही मन पुकार उठती—"ओ मेरे मर्यादा-उल्लघनके दावेदार, उन्मुक्त जीवन-सगी! तेरी उड़ानोके झोंकोमे मुझे भय लगता है—तू मुझे यों निराधार स्वातन्त्र्यके शून्यमें अकेली विचरनेको न छोड़ दिया कर। मुझे अपने स्नेहके पखोंमे छिपाले—क्योकि वह लाल-तारा कितने आवेगसे मेरे प्राणोंमें तूफ़ान जगा रहा है!"

कई बार रातमे अचानक नीद उचट जाती तो जयन्त, ऊर्मिको अपने पैरोंके पास बैठी पाता। पर प्रश्न करनेका साहस उसे न होता। उस गम्भीर मौन मुख मुद्रा, और उन अश्रु-निबिड़ आँखोंको देख, उस नारीके अन्तरके गूढ़ अनुनय-आवेदनके तलको वह समझ पाता, उन खतरेके कँगूरोकी झलक उसके हृदयमे झाँक उठती, पर वह उसका मज़ाक उड़ा देता। वह तर्क करने लगता। मोह-ममत्व और अधिकारकी विषम लौह साँकलोको

तोड़ देनेके लिए उसकी नसोंमें एक हिल्लोल सी उठने लगती। वह अपनी ऊर्मिको छातीसे लगा, उसकी पलकें चूमते हुए कहता—"ऊर्मि—डरती हो? पगली कहीं की! मेरे पखोंमें तुम सुरक्षित हो, पर अपने पखों पर तुम्हें उड़ना सीखना होगा। नारीकी इस चिरकालकी पराधीनतासे मैं तुम्हें मुक्त देखना चाहता हूँ। जीवनके आदान-प्रदानों पर तुम्हें हिचकना न होगा। निर्भय रहना होगा, शकाओं और खटकोंको निर्मूल कर देना होगा। यही औदार्य और निर्भयता—मृत्युकी गोदमें जीवनका खेलनेका यही साहस, मुक्ति-पथकी साधना है। ऊर्मि, मेरे पखों पर क्या तुझे विश्वास नहीं है?"

इन सारे शब्दोंकी गम्भीर अर्थ-माया और साकेतिक तत्वज्ञान तो ऊर्मिकी समझमें कुछ न आता, पर वह अतिम 'विश्वास' शब्द सुन कर उसके प्राण उसमें प्रश्रय पा जाते—आश्वस्त हो सो जाते। पर फिर-फिर उसकी यह विश्वासकी धरोहर ठगी जाती। वह हार जाती, बेबस हो जाती। उसका मन कातर हो आता, वह इस उलझनमे रो-रो पड़ती। न-न, बहुत हुआ। इस दुधारी कटार पर यों बच-बच कर, सम्हल-सम्हल कर और डरते अब उससे न चला जायगा। वह नारी है—पूर्ण आत्म-विसर्जन चाहती है। दुविधाकी इस धारामें इस किनारेसे उस किनारे टकराते चलनेके इस चुटीले व्यापारसे अब वह ऊब उठी है, बाज़ आ गयी है। वह लीन होना चाहती है। अपने आत्म दानकी विभाजन-रेखाकी इस कठिन मर्यादाको थामे रहनेकी शक्ति अब उसकी उंगलियोंमें नहीं है।

आदर्शकी इस आकाश-यात्रामें, सृष्टिकी विषम रहस्य-ग्रंथि नारीके मनकी वे गुथीली उलझनें मानों जयन्तकी दृष्टिमें न आतीं। वह उन्हें अनायास ही क्षुद्र कह बैठता, उनकी अवज्ञा कर देता। पर फिर भी सत्यकी प्रखर नग्न ज्वालाको देखनेका साहस उसमें न था। रमणीक और ऊर्मिके बीचसे उठ कर वह कभी-कभी चुपचाप चल देता, और अपनी स्टडीमें जाकर, अपने तम्बूरे पर कबीरके शांत वैराग्यके गीत गाने लगता। उसकी आँखोंसे आँसू बह चलते। पर उसका हृदय फिर भी सारे प्रहारों

और संघर्षोंके प्रति आमन्त्रणमय था। मानों समुद्रकी चट्टानकी वह तूफानोंको चुनौती थी।

पर आज संघर्षकी इस एक ही अन्तिम चोटने उसकी आत्माको क्षत-विक्षत कर दिया। स्वातन्त्र्यके आदर्शकी वह प्रतिमा फट पडी, और भीतरका दुर्बल मानव पश्चातापके प्रबल लावामे उबल उठा। आत्मा पर बँधी हुई जन्म-जन्मान्तरकी अधिकार-भावनाकी, तीव्र ममता-रागकी जजीरे वह न तोड़ सका। बुद्धि और तर्ककी जमीन पर चल रही स्वातन्त्र्यकी साधना टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गयी। कैसी दारुण आत्मविडम्बना और आत्मोपहास था यह।

गोमतीकी वे सुदूर तट-वाहिनी लहरे लाल, नीली, पीली-हरी, जल-जल उठ रही है। मानो जीवनका एक सुन्दर चित्र भभक उठा है, और उर्मीके रगोकी ये विकृतियाँ हैं। अरे कौन हैं, जो इस पापके बिच्छूको पकड़ ले, जिससे आत्मामे घुल रहा यह विष रुक जाय। ज्यो ज्यों यह बिच्छू तेजी से आगे बढा जारहा है, अत्यन्त तीव्र जलनके साथ वह जहर रोम रोममे छा रहा है। जयत खतरेकी धाराके इस करारे मझधारमे अपनेको न सम्हाल सका, वह डूब चला।

अपनी डूबती हुई सारी चेतनाको एकत्र कर क्षण भर वह अपने विश्वास को लौटा लेनेका आग्रह करता है। पर आज तो उसकी आत्मा ही खो गयी है। कौन विश्वास करे और किस पर करे? पतनके इस तमसावृत्त गर्तमे—अचानक कभी एक विद्युत-रेखा आकर उस जड आवरणको पल भर चीर जाती है, और उसकी आत्मा अवसर पाकर बाहर झाँक उठती है—सारल्य, सौंदर्य, श्रद्धा और सत्यकी उस स्नेह-कोमला मूर्तिको पानेके लिए। पर बाहर चारों ओर सम्पूर्ण वस्तु-व्यापार, चेष्टा—यह सारा ससार ही मानों एक विराट् पाप अपराध हो उठा है।..क्योकि अपने ही अपराधकी दारुणता से आज वह आत्म-द्रोही हो उठा था! अपने ही ऊपर से आज उसकी श्रद्धा उठ गयी थी।

हाँ उसने अपने इन्हीं कानोसे, कलेजा थाम कर सुना है कि नगरके घर घरमे पिछले सप्ताह भरमे यही चर्चा है। हाट-बाट, कुएँ-बावडी, बाजार, गली मोहल्लेमे—हर जगह एक ही बात चल रही है। लोकदृष्टिकी निंदा, धिक्कार और लाछनाके तीरो पर दो नाम साथ-साथ उछल रहे हैं—रमणीक और ऊर्मि भाभी !

उस रात ऊर्मि अपनी सहेलीके यहाँसे लौट कर घर न आयी—न पीहर न ससुरालमे। दोनों ही तरफसे आदमी छूटे। चारों ओर शका, सावधानी, दबे स्वर, भेद भरम, काना फ़ूसीका वातावरण हो गया। व्यग चले, सकेत चले। और उसी रात मुहँअँधियाले, सर्दीके ओस-धूमिल, घने नीले सबेरेमे, जब हर मोहल्लेके सिरेपर भगिनने झाडना शुरू किया ही था, क्षण भरमें ही एक नारी-आकृति गति ध्वनि हीन उस मकानकी ओटमे ओझल हो गयी, और एक युवक "अच्छा !" कहकर लौटता दिखायी पड़ा।

तभी सामनेके नारायण मन्दिरमे शंख-घण्टा बज उठे थे और धर्माधिकारी शम्भू-सेवकजी महाराज मन्दिरकी दालानके किसी अँधेरे कोनेमें जाप करते-करते पूरी आँखे खोलकर जोर जोरसे मन्त्र जप उठे थे—नारायण ! नारायण !

और तभी तारापुरके महाराजकुमारका रसीला, शोख़ तबीयत नाई मोहन, सेवा चाकरीके लिए महलोमे हाजिर होने जा रहा था।

• ऊर्मि गाफिल पैरोसे लडखड़ाती, बेखबर अपने कमरेमे जाकर पड रही। उसकी आँखो मे—धरती घूम रही थी। अपनी उस लज्जाको लेकर वह मृत्युके मुखमें मुँह छिपा लेना चाहती थी। पर उस नारीकी उन क्षणोंकी आत्म-वेदना मानों मानव-हृदय और बुद्धिके लिए अगम्य थी। इसीलिए तो आत्म-प्रपीड़न और अनुतापकी उस विह्वल-गगाका तट कोई न छू पाया है आज तक। कौन जान सका है नारीके आँसूका तल—वह तो अन्तर्यामीको भी चुनौती है।

इसीलिए तो सबेर साढे आठ-नौ बजे तक गाँवके हाथीपोलसे सूरजपोल दरवाजे तक—घर-घर मे—रमणीक और ऊर्मिकी कहानी बच्चे-बच्चेके मुँह

पर थी ।

हाँ, वही रात थी, जब रमणीकके नव स्थापित दलमें अधिष्ठात्री-शक्ति की पूजा थी और उसमें ऊर्मि भाभी केशरिया दुकूल मे—साक्षात शक्तिकी तेजस्विनी प्रतिमा बनी, पूजासनपर प्रतिष्ठित थी । वह दीक्षाका मुहूर्त था और शिक्षाकी रात भी थी ! उस दिन अपने रूपके उजालेको यों अपने आस-पास बिखरते देख, वह स्वयम् चकित थी, विस्मित थी, मुग्ध थी । जाने कैसे गम्भीर, मार्मिक अभिमानसे उस दिन वह भर उठी थी । आरतीके बाद पूजा कब विसर्जित हुई, कब प्रतिज्ञाएँ हुईं,—उसने कब आशीर्वाद दिये, यह सब कुछ उसमें एक धुँधले स्वप्न सा अतीत हो रहा था ।

× × × चाँदनी रमणीकके कमरेकी खिड़कीके जंगलेसे झाँक रही थी । बाहर दूर पर कुछ गरीबोंके झोंपड़े, घरकी दरारमें से दियेकी झिलमिली, घासकी ऊँची-ऊँची गंजियाँ, और आस-पास सघन पेड़ोंके घने विशाल तने ओस धुँधली चाँदनीमे खो-से रहे थे । कहीं जँगलमें झाड़की कोटरमे कोई विचित्र पक्षी—शायद कौआ—उस असमयमे ही कुछ विचित्र शब्द कर उठा ।

हाँ, तभी रमणीक सामने खड़ा कह रहा था—"ऊर्मि भाभी 'कल रात सपना आया था कि तुम—ओह तुम कितनी तेजस्विनी हो जोन ऑफ आर्क ! वर्जिन मेरी । विवाह तुम्हारा अपमान है, भाभी ! तुम साक्षात् मुक्ति हो—मेरे थके पख छटपटा रहे हैं—इन्हे · आश्रय न दोगी ?"

कातर याचनाकी आँखोसे ऊर्मिकी ओर देखते हुए वह क्षण भर चुप रहा । ऊर्मिकी आँखोमे उस समय एक दूरी थी—अगम्य, रहस्यमयी, भयानक । रमणीक फिर बोल उठा—

"मेरी मॉनोलीसा ! मेरा जीवन तुम्हारी मुस्कानका अर्थ बन गया है ! इसे कैसे सुलझा सकूँगा—तुम्हींने ये फन्दे डाले हैं—तुम्हीं सुलझाओ · · ·ये गाँठे तुम्हीं खोलो । मैं कुछ नहीं जानता—कुछ नहीं जानता..."

उसी रातके शेष प्रहरमें—ऊर्मि घर लौटी थी । तब वह थी एक बेबस, हारी हुई मानवी । उसका वह शक्ति रूप उसके आस-पास कंकाल बनकर मानों अट्टहास करता हुआ मँडरा रहा था । पर यह सब कौन जाने ?

*

बीचमें इत्तिफाकसे मोहन नाई लखनऊ आया था। जयन्तको कहीं बाजार मे मिल गया था, बादमे कमरे पर भी आया। वह बहुतसे ताने मार गया, व्यग कर गया। कुछ बाते माफ साफ भी कह गया। जयन्तकी सतह अब भी नहीं डिगी थी। एक कॉटा उसके हृदयके मर्ममे रह-रहकर खटक उठता।

उसके अत्यन्त कठोर आग्रह पर उसके एक सहृदय मित्र अक्षयने उसे सारा हाल लिख दिया था। वे सारे विवरण भी उसने लिख दिये थे, जिनसे वह वाकिफ था और जितना वह जान सका था। पत्र पढते ही पढते जयन्तके पैरोके नीचेकी धरती धॅस गयी। ऑखोमे अॅधेरा छाने लगा। 'नहीं ऊर्मि . नहीं। हरगिज नहीं। तुम्हे मुझसे कौन छीन लेगा? तुम—तुम मेरी एक मात्र लेकिन कहाँ? तुम मैं वह? तीनो अलग अलग हैं, भिन्न-भिन्न अस्त्वि? सबका अपना मूल्य फिरतो यह आदर्श—यह समता धोखा है—झूठ है—ओह लूट, डकैती, छीना झपटी, ऊर्मि,...मै अपराधी हूॅ मैंने तुम्हे धक्का दे दिया—उस रात सपना आया था न, उफ कैसा क्रूर व्यग है यह '

वह आदर्शके आसमानी पुलसे यथार्थकी जमीनपर आ गिरा। जीवन का आधार इतना गलत, इतना कच्चा? एक अविश्वासकी अशेष अन्धकार पूर्ण खाई उसके सामने फैल गयी। अरे दम्भ है वह—दम्भ है पवित्रता मात्र घूॅघट है—छल है! भावना? हार्दिकता?—वह कविताकी इन्द्र-धनुषी नीहारिका है। उसके भीतर वही कदर्य, कुरूप कुत्साकी राक्षसी हॅस रही है। आदर्शकी ओटमे पलकर बडा होनेवाला पाप सबसे अधिक दण्डनीय है। वह आत्म छल है, वह लोक-वंचना है।

जयन्त ऊर्मि रमणीकके उस सत्य-शिव-सुन्दरम्‌की पूर्ण मगल कुकुमी लालिमामे यह कैसी कालिमा घुल गयी। वह सारा चित्र जल उठा। जयन्तने वे ज्वालाएँ देखीं। वह नहीं समझ सका, यह आग कहाँसे उठ आयी थी। वह तो केवल ज्वालाएँ देख सका—हाँ, चित्र जल रहा था। खतरेको प्यार करनेका जयन्तका स्वप्न एक बमके विस्फोटकी तरह हो गया। अहिंसाकी नीवमें अनजाने कहीं पल रहे किसी कायरताके अशमेंसे अनायास ही हिसा फूट पड़ी—बड़ी ही गभीर, मर्मान्तिक, दारुण वेदनासे भरी।

क्या जयन्तका हृदय पराजित हो गया? इसका उत्तर कौन दे? उन तीनोंके चित्रको वह उस आगमेंसे बचाना चाहता है। पर वह बेबस हो पड़ा है। साहस नहीं है उसमे। एकको मिटाकर ही शेष कोई दो अस्तित्व रह सकेंगे वर्ना वर्ना?

राह निकल आयी। वह आत्म-विसर्जन करके अपनी रक्षा करेगा। उसने घर लिख दिया कि वह अब घर नहीं लौटेगा। उसके जीवनकी दिशा बदल गयी है, उसका लौटना नितांत असम्भव है। उस आत्म विसर्जनमे आत्म त्याग था, या अपना बचाव, पलायन—कायरता? सो तो जयत ही जाने।

पर वह अपने ही से उबर न पाया था, जाता कहाँ? दो-तीन दिनमे ही घरसे पिता जी की सख्त बीमारीका तार आया और उसी शाम घरसे आदमी उसे लिवाने आ गया।

आत्म-विसर्जनकी ओट छिपायी गयी—आत्म-हिंसा नग्न होकर उसमे खुल-खेल उठी। वे आत्म-द्रोह और आत्म हिंसा, विश्व-द्रोह और विश्व-हिंसा में परिणत हो गये। जयन अपने जाने-बेजाने नितान्त नास्तिक, अश्रद्धावान हो उठा। उसका सारा तर्क नकारात्मक—संहारपूजक हो गया। एक निर्दय आत्म-पीडन दिन-रात उसमे चला करता। रात-रात भर उसे नींद न आती।

पिताजीकी तबीयत सम्भल चली थी। आज उसके कमरेमे जाकर सोने को माँने उसे मजबूर कर दिया था। पर अब इस अस्तित्वको लेकर ऊर्मिका झेलनेका साहस उसमे चुक गया था। इन अस्तित्वोंमे समझौता नहीं हो सकेगा—नहीं हो सकेगा। मिट जाऊँ—मिटा दूँ का एक अस्पष्ट अंधकार-पूर्ण भीषण आयोजन उसमें चल रहा-था दिन रात।

अब रातके दो बज रहे होंगे। उस पत्थरके देवताके चरणोंमे मस्तक पछाडती, आँसुओंसे उनका प्रक्षालन करती—वह जाने कब सो गयी थी। पर पाषाणका प्रभु मेरु अचल—जड-पिण्ड!

.. विवाहकी पहिली सुहाग-रातको जयतसे सुनी मीराकी कहानी ऊर्मिको भूली नहीं थी। उसने अपने प्यारकी भोली शपथोंमें सुख-चंचल होकर कहा

था—'तुम जो कहोगे वही करूँगी।' 'मै कहूँ जहर पीलो तो?' जयन्तने हर्षा-वेगमें पूछा था। 'तुम्हारी यही इच्छा होगी तो पी लूँगी—कभी परीक्षा कर देखना!'

कौन जाने आज ही वह परीक्षाका दिन हो।

खूँटी पर काँचकी लालटेनमे जल रही चिमनीकी मद्धिम रोशनी कमरेमें फैली थी—म्लान, निष्ठुर, मरण-मौन।

वह साहसपूर्वक काँपते हाथमे प्याला लिये जयन्तके बिलकुल निकट आ बैठी। उल्लाससे दीप्त मुख मंडल पर आँसुओंकी धाराएँ बँधी थीं। सुफेद उज्ज्वल प्यालेमें काला-काला हिलता हुआ जयन्तने साफ देख लिया। जैसे अपने भीतरका प्रतिबिम्ब उसने उस प्यालेमे देख लिया हो, और वह साहसपूर्वक हँसते हँसते अभी पी जायगी—?

जयन्तके मनके सारे अन्धेरे एक बारगीही फट गये। जैसे निमिष मात्रमें उसने अपनेको पा लिया—अपनी आत्माको पा लिया।

ओठोंपर लग चुके उस प्यालेको उसने झपटकर छीन लिया—और दीवारपर दे मारा।

ऊर्मिके पैरोंमें वह बरबस ही जा गिरा—और रो पड़ा फूटकर।

उसके भीतर इस क्षण रह रहकर एक ही बात गूँज रही थी—'मृत्युकी गोदमें जीवनका खेल खेलनेका यह साहस ही मुक्ति-पथकी साधना है!'

ऊर्मिने शायद जयन्तके इन शब्दोंका अर्थ कभी न समझा—पर उनका आग्नेय सत्य बनकर खड़ी थी वह नारी जयतके सामने!

७

बेबसी

अपने अस्तित्वकी तृप्तिके मदमें चूर, गोरे मिल-मैनेजरने ऑफिस के कमरेमे प्रवेश करते हुए पतलूनकी जेबसे रूमाल निकालकर पसीना पोंछ डाला। आवश्यकतासे अधिक पोषित, जौंककी तरह फूल रहे, विपुलताके अतिरेकमय सन्तोषसे इतराते-इठलाते, मतवाले हाथीसे अपने विशाल शरीरको कुरसीमे फेंकते हुए, अपने दोनों पैरोंको उसने खूब ज़ोरसे धरतीसे उठाकर सामनेकी मेज पर दे मारा। फिर सामने बैठे अपने क्लर्क नीलमणिकी ओर देखकर मुस्करा दिया और अंग्रेज़ीमें कहा—

"ओह, पैर हैं या सीसा! जानते हो हमारी बाइबिलमे क्या लिखा है?—अदनके बागमें ईश्वरने आदम और ईवको शाप दिया था कि दुनियाके अखीर तक आदमी अपनी भौंहके पसीनेसे रोटी कमायेगा और औरत बच्चा पैदा करनेके शूल सहेगी, सो अपने हिस्सेका शाप मैं भी झेल रहा हूँ—।"

कहकर वह ज़ोरसे हँस पड़ा। यों वह अपने महीनेके १३००) रुपयोंकी कैफ़ियत दे रहा था, कि वह भी पसीना बहाकर कमाता हैं और अपने

हककी न्यायसगत मजदूरी पाता है। प्रभुके न्यायसे वह अपनी बातका समर्थन कर रहा था।

उसके सन्तोषपर नीलमणिने हँस दिया, घृणासे नहीं दयासे, मानवकी इस हीनताको तुच्छताकी दृष्टिसे देखते हुए।

तब बड़ी ही मस्ती और लापरवाहीके साथ साहबने सिगरेट सुलगाया और धूएँको कुछ यो उडाया, गोया कि सारी दुनियाको अपनी फूँकमें वह उडा सकता है।

और तभी ऑफिसके दरवाजेसे तीन हाथ दूर जूते उतारकर, कुहनी तक हाथ जोड़े, अपनेको सिकोडे समेटे, क्षुद्रतर करते हुए, बुधई दरवाजेमे आकर खडा हो गया। अपनी जगहसे ही उसने जमीनमे माथा टेककर साहबके पैरोकी वन्दना की और काँपता बिलबिलाता हुआ साहबके मुँहकी ओर देखने लगा। अपने क्रोध, विद्रोह और आत्म यन्त्रणाको, उसे इस गोरे प्रभुके आगे कातर प्रार्थनामे बदलना था।

साहबने जब उसे अपनी बात कहनेके लिए सकेत किया, तब उसे अपना उद्वेग और रोष सम्हालनेमे देर लग गई। वह कुछ लडखडाया, कुछ गिडगिडाया साहबकी भवोंमें तिरस्कारके बल पड़ रहे थे। तभी बुधई किसी तरह बोला—

"हुजूर, यह दरखास है "

साहबने सामने टेबलपर पडी दरखास्तको उडती नजरसे पढ डाला और कहा—

"ये कम्पनीका काम नेई है—तुम घॅरी-घॅरी झगरा करता—घॅरी-घॅरी इदर आता—ये अमारा काम नेई है, कायको इदर आता, एक बकत बोला "

"हजूर मेरी अरज सिरफ इतनी-सी है कि वो हीरा बिना काम मुझे छेड़ता है, मैं अपनी राह जाता हूँ, अपनी राह आता हूँ,—फिर भी वो बेकाम छेड़खानी करता है, मूछ पे ताव देता है, खँखारके अँगूठा दिखाता है "

साहब ऊबकर बीच हीमें बोल उठा—

"लेकिन ओ कम्पनीका काम नेई है, तुम बाहेर झगरा करता—कायको इदर आता, एक बकत बोला, हम कुछ कर शकता नेई हय, कायको इदर आता ..."

साहबकी त्योरीकी सिकुड़न और स्वरकी चिड़चिड़ाहटसे बुधई सहमा। पर तभी उसका दबा हुआ उद्वेग फिर उमड़ा, फिर वह उत्तेजित था, फिर उसे बड़ी कठिनाईसे कातरतामें परिणत कर वह बोला—

"हाँ हजूर मै मानता हूँ, वो कम्पनीका काम नहीं है—मगर एक तो चोरी और ऊपरसे सीनाजोरी (और एक घूँटमे उमड़ आये हुए क्रोधको पी जाता है) खैर मगर ऊपरसे मूछ पर ताव देकर यह जताता है कि कोई उसका कुछ न बिगाड़ सका है—हूँ—(फिर कण्ठ थर्रा आता है) लेकिन वह क्यों मुझे बेकाम सताता है लेकिन अब क्या बाकी रह गया है क्या अब भी उसकी तबियत न भरी। मै साहबसे सिरफ यह अरज कर देना चाहता हूँ (सहसा ही असह्य बेबस क्रोधसे वह उबल उठा, आँखे उत्तेजना और आवेशसे लाल हो गई) मै सिरफ यह जता देना चाहता हूँ हजूरको कि बरदासकी भी हद होती है, किसी दिन झगड़ा हो जायगा, किसी दिन न जाने क्या हो बैठे कहाँ तक सबर करूँगा "

साहबने चबाकर व्यग करते हुए पूछा—

"झगरा हो जायगा झगरा हो जायगा, तुम झगरा करेगा ..हाँ ?"

बुधई फिर सहमा, फिर सम्हला।

"नहीं हजूर, नहीं मालिक, मेरा मतलब सिरफ इतना-सा है, मै गरीब आदमी हूँ, किस्मतका मारा हूँ, किसी तरह अपनी रोटी चलाता हूँ मैने उसका क्या बिगाड़ा है, जो वह हमे यों सताता है बिना काम "

और उसका गला भर आया, उससे बोला न गया। वह उसका छट-पटाता हुआ पौरुष, उसका घायल अभिमान तड़प रहा है। मगर साहब तो शायद इस कल्पना पर भी खिल्ली उड़ाता कि उसके भी कोई आत्मा है, उसके भी कोई आत्म मर्यादा और आत्म-सम्मान जैसी चीज हो सकती है !

तभी साहबने बड़ी बेदर्दीसे, कथाकी पिछली शृङ्खलाको छेड़ दिया—

'तुमारा औरत, आबी तुमारा पास नेई आया—ओ हीराका पास है—अबी ?"

यही उसके सर्वनाश, पराजय और उसके चोट खाये हुए आत्माभिमानका जख्म है, जिसे वह स्वयम् दिखाने अथवा छोड़नेमें अपनेको सर्वथा असमर्थ पा रहा था। मगर उसकी सारी प्रार्थनाकी कातरता, बेबसी और रह रहकर उमड़ आते क्रोधका स्थल यही तो है, वह उसीपर साहबको लाना चाहता था। पर उसका पौरुष ? उसका अभिमान ?

साहबकी बात सुन कर बुधईको एक बिजलीका झटका सा लगा। आँखोंमे अंगारे दहक उठे। क्षण भर खामोश वह सामनेकी दीवारको ताकता रहा। फिर एक खूनका घूँट उतारकर वह बोला—

"उसका तो कोई जिकर नहीं है मालिक, मगर अब यह बेकाम क्यों मेरी छेड़खानी करता है—अब क्यो मेरे प्राण लेता है, किसी तरह अपने बच्चोंको पाल रहा हूँ—छोटे-छोटे दुधमुँहे बच्चे हैं, मै पहले ही दुखका मारा हूँ मै सिरफ यह अरज करना चाहता हूँ—दुखीको छेड़ना अच्छा नहीं—इसका नतीजा आखिर बुरा है "

साहबने फिर छेड़ा—एक बेदर्द कौतूहलसे—

"तुमेरा औरत आबी तुमेरा पास नेई आया ?—ओ तुमेरा पास आना नेई माँगता ?"

पहले तो वह क्षणभर नीची निगाह किये जमीन पर थरथराते अपने पैरोंको अकुलाहटसे मलता रहा—खामोश। फिर नीलमणिकी तरफ दृष्टि कर भर्राते कण्ठसे कहने लगा—

"उसका तो अब जिकर ही क्या है हजूर, वह तो गई सो गई, मैंने कभी मुड़कर नहीं देखा। कौन जानता है—वह कहाँ है, क्या है, कैसी है ?-.. मगर अब ये मुझे क्यों बेमतलब सताता है—क्यों कुढ़ाता है ? जहाँ मिलता है, खँखारकर मूँछों पर ताव देता है। आखिर आखिर कहाँ तक सबर करूँ ? दुखका मारा हूँ—पहले ही जला हुआ बैठा हूँ . (फिर सहसा-एक दबी हुई भयंकर प्रति-हिंसाके स्वरमें) मैं कहता हूँ हजूर—गरीबको

—दुखियाको सताना अच्छा नहीं .इसका नतीजा किसी दिन बुरा है बहुत बुरा है..."

बेबस क्रोधसे उसका सारा शरीर थर्रा रहा था । रह-रहकर वह खूँख्वार हो उठता और रह-रहकर उसका गला भर आता । उसका सारा क्रोध, सारा पौरुष उसके काले चेहरेकी निकली हुई हड्डियोंमे बिलखता, पछाड़ें खाता, विवश रुलाईमे बिखर पडता दिखाई दे रहा था ।

साहबने पूछा—

"तुम औरत वापस माँगता ?"

बुधईपर फिर आकर मानों बिजली-सी गिरी । इसका जवाब उसके पास नहीं है ! उसके जख्मपर फिर किसीने जैसे चाकू मार दिया ।

उसकी आँखोमें शोले उठने लगे—मगर वे पानी बनकर, पसीना बनकर बह गये ।

नीलमणिकी तरफ मुखातिब होकर वह कहने लगा—

" अरे हुजूर, क्या बताऊँ यहाँसे ले गया । मीलमे काम करती थी तीसरे मंजिलमे—वाइंडिंग (Winding) मे । कामके बाद वह घर आ रही थी—और वह सीधा ले गया अपने घर । आज तक दिखाई न दी " क्षण भर खामोश रह, थूक निगलता हुआ वह बोला—"कोई मुसलमान होता बाबू साहब मेरी जगह, तो बोटी-बोटी काट डालता उसकी...इसी हीराने पहले मुझे बाप बनाया था उसे माँ बनाया था. और फिर ऐसे करम किये और जाने क्या-क्या .अब क्या कहूँ हजूर, वह कथा जाने ही दीजिए.. "

नीलमणिने कहा—

"अदालतमे उसपर मुकदमा क्यो नहीं चलाया ?"

"अदालत—! हजूर रोटियोके तो लाले पडते हैं, जिस तरह पेट पालते हैं, हमी जानते हैं । अभी डेढ सौ रुपया कर्ज लेकर लडकीका ब्याह किया । अदालतमें जानेको रुपया चाहिए, वकील लगाना होगा—वह कहाँ

से आये ? और अदालतमें कौन सुनवाई है और अदालत—उसका भरोसा भी क्या—?'

गला उसका रुँध आया। उसके सिरकी नसें रस्सी सी फूलकर ऊपरको तैर आईं, उसके शरीरका सारा रक्त वहाँ विवश पछाड़ें खा रहा था। उसके पसीनेमें शराबोर चेहरेकी हड्डियाँ मानो तड़तड़ाकर फट जाना चाहती थीं।

मगर उसकी लाल गुस्सैल आँखें कातर थी।

फिर एक बार हिम्मत कर उसने साहबसे कहा—

"हजूर, मेरी सिरफ यही अरज है के वह मुझे अब न सताये. मैं पहले ही जला बैठा हूँ.. दु खीको सताना अच्छा नहीं—'

"ओ अम कुछ नेहीं कर सकता—उसका पास जाओ मत उससे बोलो मत, झगरा करना अय —कोर्टमें जाओ, केस बनाओ ..! जाओ... जाओ "

बुधई की आँखे साहब के मुँह की तरफ फटी रह गई। कुण्ठित हिंसा से जड़ित, पथराई पुतलियो की तीव्रता गीली हो आई। वह बिना और कुछ कहे चल पड़ा। दूर पर वह गाफिल लड़खड़ाता चला जा रहा था। नीलमणि ने उसकी खोपडी की तनी हुई नसो को धूपमें चमकते देखा।

नीलमणि की आत्मा में एक ज्वाला-सी उठने लगी, उसका सारा चैतन्य प्रज्वलित हो उठा। वह अपने को न रोक सका—वह साहब से बहस कर पड़ा अँग्रेजी में—

"मैं आपसे पूछना चाहता हूँ, क्या आपकी कम्पनी ने इन पाँच हजार आदमियोंकी शक्ल मे जानवर घेर रखे हैं ? क्या इन्सानियत के नाते, उनकी इन्सानियत की रक्षा करनेका कम्पनीका कोइ नैतिक फर्ज नहीं है ? हीरा सरेदश्त आज नौ महीनोसे उसकी औरत को दबाये है, ऊपर से उसको दिक करता है, जले पर नमक छिड़कता है—और हीराकी नौकरी बरकरार है, और आपकी कम्पनी, जिसने इतने आदमियों को यहाँ इकट्ठा कर, ऐसी विषम स्थिति पैदा होने का मौका दिया, वह इससे इतनी बे सरोकार। "

साहब ने हँसकर जवाब दिया—

"वह उनका व्यक्तिगत मामला है, कम्पनी उसमें दखल नहीं दे सकती। उसके लिए अदालत खुली है। यहाँ ऐसे एक नहीं, बीसों मामले हैं, कम्पनी किस-किस का फैसला करे, किस- किस को डिसचार्ज दे, हीराको कम्पनी सजा नहीं दे सकती—डिसचार्ज नहीं दे सकती ?"

नीलमणि फिर उबल उठा—

"तो क्या कम्पनीने इनका खून चूसनेके लिए ही पैसे देकर ये जानवर पाले हैं। अपना स्वार्थ पूरा होनेके बाद, इतने आदमियोंको इकट्ठा घेरकर रखनेमें कम्पनीकी कोई नैतिक जिम्मेदारी नहीं है ? अपने अधिकारको काममें लाकर अगरचे कि कम्पनीके अधिकारी, उनमें इन्सानियत, व्यवस्था, अनुशासन और शान्ति कायम रख सकते हैं, फिर भी वे पत्थरके दिल बनाकर उनके दुख-सुखसे इस कदर बे सरोकार क्यो हैं ? क्या उनके भीतर, कम्पनी की कानूनी जिम्मेवारीके अलावा, कोई और इन्सानियतकी जिम्मेवारीका तकाजा नहीं होना चाहिये ? और अगर नहीं है तो हम भद्रवर्गके लोग उच्चता, सस्कृति, मनुष्यता और आदर्शके दावेदार क्यों बने बैठे हैं ? क्या समाजके आर्थिक नातोंमें, मनुष्यता, नैतिकता और न्यायकी जरा भी गुजाइश नहीं है ? योंdepartments बनानेसे काम नहीं चल सकता। नैतिक जिम्मेवारी सब जगह है, अन्यायकी बेरोक प्रवृत्तिको रोकनेका जिम्मा हर इन्सानका है। निरे सूखे रोटीके टुकड़ोंपर आदमियोंको जानवरोंकी तरह खरीदकर जो लोग उनकी शक्तियोका मनमाना उपयोग कर रहे हैं, वे ही पूर्णत जिम्मेवार हैं, इन अभावपीडित मानवोंके जीवनकी सारी विषमताओं, जटिलताओं और इनमें पैदा होनेवाली पाशविक बर्बरताके लिए ! तुम आदमीकी जीवन-सत्ता खरीदते हो, और उसके उत्तरदायित्वसे यों भागकर, अपने ही द्वारा पैदा की गई उनकी शिकायतो और तकलीफोंसे मुँह मोड़कर, उनको अदालतका रास्ता दिखाकर छुट्टी ले लेना चाहते हो ? और अदालत ? वहाँ का न्याय-देवता भी तो धनकी सत्ताके हाथों बिका हुआ है। स्टेटकी उस न्यायकी बड़ी दूकानसे न्याय खरीदने जितने पैसे गरीब बुधईके पास

कहाँ से आयँगे—यह भी कभी सोचनेकी तकलीफ आपने की है ? ”

नीलमणि आवेशमें लेक्चर-सा दे चला। तब तक साहबने कोट पहन-कर हैट लगा ली थी। बारह बज रहा है, घर जाने का वक्त हो गया। नील-मणिका इन्सानियतका लेक्चर उसे खाक पत्थर भी समझमें न आया। महीनेके आखीरमें मिलनेवाले उनके १३००) रुपयोंके रास्तेमें—ये 'इन्सा-नियत', 'नैतिक जिम्मेवारी' और 'मॉरेलिटी' नामके अजनवी जानवर कहीं नहीं आते हैं।

एक ताजा सिगरेट सुलगाकर—

"ऑल-राइट, ऑल-राइट, गुडमॉर्निंग " कहता हुआ वह चल दिया।

नीलमणि शान्त न हो सका। उसी आवेशमें आँधीकी तरह भर्राता हुआ वह ऊपरके आफिसमें, आफिस सुपरिन्टेण्डेण्टके पास गया। चुप चाप जाकर दरख्वास्त उनके हाथमें थमा दी और कहा—"जरा पढनेकी तकलीफ करेंगे। एक पुराना मामला है, आप तो जानते ही हैं—पढकर जरा अपनी वरडिक्ट दीजिये—।"

दो-चार लाइन पढी न पढी, नीचेका नाम देखा। ओ० एस० ने कहा "जनाब, बाहर लेजाकर इसे फाडके फेंक दीजिये। ये बहुत पुराना मामला है। क्यों बार बार यह शख्स शिकायत करता है, ये अदालतका काम है, हमारा नहीं ”

"मगर आपकी भी कोई नैतिक जिम्मेवारी तो आखिर—"

ओ एस झुँझला करके बीच ही मे बोले—

"भाडमें जाये—ऐसी नैतिक जिम्मेवारी"

सामने कागजोंमें दस्तखत करते हुए कुछ रुककर फिर बोले—"अरे भाई, वो अपनी औरतको काबूमे नहीं रख सकता, इसका क्या इलाज ?"

नीलमणि, उत्तर देनेकी आवश्यकता न समझ, चुपचाप अपने ऑफिस में चला आया। उसके दिमागमें गूँज रहा था—"वह अपनी औरतको काबू में न रख सका, इसका क्या इलाज ?' मगर वह क्यों न रख सका ? क्या नैतिकताकी चोटी पर बसनेवाले इन भद्रवर्गके लोगोका, इस बातमें कहीं न

कहीं जाकर कोई दायित्व नहीं है ? इन संस्कृति, आदर्श और चरित्रके दावेदारों में आखिर कितने अपनी दम पर, अपनी ताकतके बूते अपनी औरतको काबू में रख लेते हैं ?

यों नीलमणि बहुत देर तक उलझता ही रहा, इस सारे चक्करमें—'माना कि अदालत पूँजीपतियोंकी है—और न्यायका व्यवसाय करती है, उसके न्याय पर गरीब बुधईको भरोसा नहीं हो सकता है। समझमें आता है कि मिलके मालिक पूँजीपति और अधिकारी, इन आदमियों को घेर रखनेमें अपनी कोई नैतिक जिम्मेवारी महसूस नहीं करते, वे किसी इन्सानियतके तकाजेके कायल नहीं। सभी बातें समझमें आती हैं—मगर उस औरत और बुधईके मनोके बीचकी गाँठ—उस औरतके दिलकी बात . ? और अनायास ही नीलमणिको याद हो आई बुधईकी वह बेबसी, वह ललाटकी क्रोधसे फड़-फड़ाती नसें, अंगारों-सी लाल आँखें, और फिर उसका वह आँसूका घूँट उतार जाना !

८

वह चली गयी !

[एक अराजकवादीकी डायरीसे]

वह चली गई—मेरे देखते-देखते चली गई। उस बिदाके अन्तिम क्षणमें गाड़ीकी सीटी बजते-बजते भी मुझे नहीं मालूम था कि वह चली जायगी। पर इस क्षण आकाशकी अखण्ड शून्य भाषामे यह सत्य घोषित है कि वह चली गई। छातीपर लकीर खींचती हुई गाड़ी निकल गई—और उस मन्थर घड़घड़ाहटमे होकर शरीरकी शिरा-शिरामे गूँज उठा—वह चली गई। परित्यक्त प्लेटफॉर्मके सुनसानमें शून्य अवसादकी भाषामें गूँज उठा—वह चली गई।

'गति जीवनका धर्म है—स्वभाव है। प्रत्येक पदार्थ अपनी सत्तामें स्वयम् गतिशील है। सबकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है और सबकी अपनी गति'। इस सत्यको पाया, हृदयके रक्त-कम्पनमय सवेदनमे होकर खूब तीव्रतासे अनुभव किया। कि चोट खाकर दूसरे ही क्षण मैं दार्शनिक हो उठा और सत्यको पाकर, आत्मसुख-विभोर हो विश्लेषण करने लगा—क्या एक मानव

के साथ दूसरे मानवके सम्बन्धोंमें होकर भी हमें अपनी ही तलाश है ? क्या एक मानव दूसरे मानवके प्रति करुणामय, स्नेहमय और सहानुभूतिशील इसीलिए है कि वह वस्तु या व्यक्तिका सत्य खोजे ? पर सार्वभौम जीवनकी प्रत्यक्ष फिलॉसफी यह नहीं है, व्यक्तिका आत्म-धर्म यह भले ही हो। मानव की प्रकृत चेष्टा तो सुखके लिए हैं, ज्ञानके लिए नहीं। जीवनका वास्तविक दर्शन तो गतिमय है। दार्शनिकोंकी स्थिर फिलॉसफी उसपर सीधे फिट नहीं बैठाई जा सकती।

वह चली गई और अपने आत्मधर्मका मूक निवेदन करती हुई चली गई। वह रो रही थी। उसकी आँखसे आँसू नहीं टूट रहा था। अपलक, आँसू ढुलकाती आँखोंकी स्थिर दृष्टिसे वह मेरे मुखको देख रही थी। जग जीवनकी सारी मोह करुणाकी बेड़ियोसे घिरी वह अपना परिचय देकर चली गई, कि उसकी अपनी दिशा है—वह अपने ही आत्म-देशको जानेके लिये इस भव-सागरमें अपनी नाव खे रही है। उसके अपने डॉड हैं और अपनी नावकी वह अकेली कर्णधार है। पर वह नारी है—शरीरसे, विश्व-शृंखलाको जोड़ने-वाली एक कड़ी ! इसीलिए तो जीवनके दार्शनिकोंने उसे अबला करार दे दिया है।

उस आँधी-तूफानकी रातमे जीवनके सीमा-परिधिहीन, सागरकी काली विकराल लहरोंमें उसकी नाव झोले खा रही थी। और वह बालिका अकेली थी अपनी नैयापर, उस दुर्वेलामे। मै भी कई द्वीपोंकी आकर्षणमयी चट्टानों से टकराता-टकराता आ निकला था इस सागरमे, किसी 'नीलमदेश' की राज-कुमारीकी खोजमें,—अनेक विजन जल देशोंमें भटकता हुआ। उस दिगन्त-व्यापी जलान्धकारमें भटकती, झोले खाती उस एकाकिनी बालाकी नाव मेरी नावसे आ टकराई। उसने अपनी नैय्यापरसे ही झुककर मेरा पल्ला पकड़ लिया—मेरी बॉह थाम ली ! उस विपदाग्रस्त, भयभीता बालिकाने मेरी बाहों में अभय-दान चाहा। मेरी निर्ममता पल भरको काँप उठी। उन प्रश्रय माँगती आँखोंकी विवश याचनाको मै ठुकरा न सका। उसकी बाँह पकड़कर मैं भर आया। अपनी मोह-ममताकी दुर्बलतापर आत्माके आँसू आ गये। इस

प्रलयकी महानाशकारी रातमे मृत्युके तटपर खड़े होकर इसे थाम लूँ ? अर्थात् इसे जीवन-जगत्में खींच लाऊँ—मृत्युसे बचाकर ? फिर तो जैसे उसकी सत्ता का ज़िम्मा मुझपर आ जायगा । और मै कम्पित, विह्वल ओंठोंसे कह उठा—'ना-ना ! मै कहाँ ले चलूँगा तुम्हे ? मै अनन्त पथका यात्री हूँ—मैं अपने उस अनजान देशमें तुम्हें न ले जासकूँगा । मुझे जाना है और चले जाना है, मुझे अपने आँसुओंकी जंजीरोंसे न बाँधो, बाले ! मेरा मार्ग बड़ा विकट है—विजन, अज्ञात । नितान्त जनहीन, प्राणिहीन सागरोंमें होकर मेरा मार्ग है । बाले, तुम बहुत कोमल हो ' तुम उस प्रवासका त्रास-कष्ट न सह सकोगी । मै तुम्हें साथ न ले जा सकूँगा—न ले जा सकूँगा ।'

उसने और भी दृढ़तासे खूब जड़ककर मेरी भुजाएँ पकड़ ली और सिसक सिसकर रोने लगी, मै हार गया—मै बेबस हो गया ।

पर आज वह कैसे चली गई ? जैसे उस अबेलाके बाद सबेरे उजली धूप निकली और उस प्रकाशमे वह चल पड़ी अपनी दिशामें—हँसती हुई । मानो अपनी मौन हँसीसे कह रही हो—'हम तो चले नाविक अपने देश ! पर नाविक अब मै दुर्बल हो गई हूँ । तुम्हारे विछोहमे त्रस्त सतप्त हूँ । तुम्हें छोड़ते छाती काँपती है ।'

इसीसे तो उसकी आँखोमें आँसू आ गये थे । पर साथ ही हँसते ओंठों से वह बिदा माँग उठी । बड़ी-बड़ी सरला आँखोके कोओपर आँसू उलझे थे, और ओठोंपर हँसी । देखती ही रह गई—वह प्रश्नमयी—जाने किस चिर कुतूहलसे उद्विग्न । और उसके अग अगमें नमनकी, समर्पणकी विनम्र चेष्टा उमड़ी आ रही थी । उससे न रहा गया । उसने हाथ जोड़ लिये और वह माथा सहज ही झुक गया । अतुल कृपा कृतज्ञताके बोझसे मानो वह दब गई । उस निष्ठाके प्रति मेरे रक्तमें आदर और श्रद्धाका ज्वर-सा उठ आया । मैने सहज ही हाथ जोड़ लिये और आँखोंके आगेसे जैसे देवी लीन हो गई । वह बड़ी-सी बिदियावाला छोटा-सा उजला मुखड़ा । वह इतना सार्थक हो गया कि उसका अभाव विश्वकी सारी जड़ताकी स्पन्दन-चेतना बनकर कसक उठा है ।

वह रो रही थी मेरे मुँहको ताकती हुई—जब तक गाड़ी खड़ी रही। और मैं उसकी आँखों पर आँखें न ठहरा सकता था। सूनी, निर्मम दृष्टिसे गाड़ी के दूसरे मुसाफिरोंके मुँह ताकता हुआ, मैं स्टेशन पार के वर्षामें नहाये जगलोंको देख रहा था। मुझसे उसके मुँहकी ओर न देखा जाता था। मानों क्षण भर बाद ही सामने आनेवाले सत्यकी आशकासे मै भयभीत हो रहा था। वह मेरी कायरता थी—मै सत्यसे मुँह मोड़ रहा था। उसको रोते देखकर भी मुझे रोना न आया। उसके जी को आश्वासन देनेके लिए भी मेरी आँखोंमे दो आँसू न आ सके, जबकि वह बराबर रो रही थी। आँखें उसकी सुर्ख हो चली थी। पर मे तो उन ओठोंकी हँसीके साथ हँस भी न सका। मैं तो मानों पत्थरका हो गया था—सागरकी चट्टान सा, आइस-बर्ग-सा निर्मम, निरपेक्ष, कठोर, अप्रभावित। पर आत्मा के निकटतम कक्ष हृदयकी निगूढ गुहामे वह सत्य झाँक रहा था, और एक अशब्द रुलाई गूँज रही थी, जिसे मै अपने भीतर बैठे सतत-जागृत अन्तर्द्रष्टासे न छुपा सका—न छुपा सका।

गाडी निकल गई। दूर जाती, वर्तुल बनाती, रेगती गाड़ी चल पड़ी। उसकी लवेण्डर रगकी साडीका रूपहरी कोरवाला छोर खिडकी पर झाँकता रह गया। और अनायास, जैसे एक प्रबल लहर आकर टकराई। हृदयकी चट्टान एक प्रतिघोषके साथ टुकड़े-टुकडे हो गई। मै बिखर गया—मेरी निर्ममता काफूर हो गई। हृदय पर बाँधी हुई ज्ञान-दर्शनकी दीवारें टूट गईं, कि क्षण भरमें मुझे जड़ और चेतनका यह सघर्ष समझमें आ गया। आसपासकी शून्य पृथ्वी विधुर साँस छोड उठी। एक सूनापन—खालीपन मानो अन्तरिक्षमें बज उठा।

और मैं ताँगे पर चढकर देखता चला—रानीसरायके मैदानमे खाना-बदोश कजड़ोंके चूल्हों परसे उठता हुआ नीला धुआँ। मुझे याद हो आया कि मै प्रवासी हूँ—और यात्रीके एक चिर-नवीन उत्साह-कुतूहलसे मैं भर उठा। पर यह रानीसराय, जो जगत-सरायकी प्रतीक है, सदा निर्मम, वीत-राग और उदासीन है। यात्रियोंको निष्प्रयोजन भावसे वह आश्रय देती

है, और वैसी ही निर्ममतासे बिदा कर देती है। यह भी आज मानो अपने जगतके मुसाफिरोंकी अन्तहीन कहानी कहते-कहते रो पड़ी है! इस सरायकी वीत-रागता करुण हो गई है। ओह, वह चली गई—सरायके उस मुगली गुम्बद पर भी यह गूँज उठा है।

टाउनहॉल, पार्करोड, ममेड पिक्चर पैलेस, प्रिन्सेस हॉटेल, नीलमगजके ये दूर दूर तक फैले नये ढगके कॉटेज नुमा सीमेंटके बँगले, उनके बाहरके छोटे-छोटे बाग, द्वारोंके तोरण, कहीं दूरके बँगलेसे आता हुआ रेडियोका अलस-मन्थर गीत—सभीमें यह एक ही सवेदनकी डोरी खिची हुई है। आज इन सबका परिचय कितना नवीन, दर्दभरा और कम्पनमय है। इन सबके बीच मैं अकेला होकर घर लौट रहा हूँ। चारो ओर दिशाओंकी नीलिमामें वह क्या था, जो खाली हो गया—चला गया? रास्तेमें मन रुँध गया। चारों ओर एक गम्भीर अवसन्नता, अभावकी जडता घनीभूत होने लगी। मानो वह दूसरा चैतन्य जो इस सारे जड जगतके अणु अणुमे होकर मुझसे बँध बिंध गया था, वह मुझसे खिंचा—इस जीवन-जगतकी परिस्थितियोंकी विषमता से—इसीसे यह वेदना मुझे बीधने लगी।

अचानक सोच हो आया—वह जीवनमे इस तरह बस चली थी—अनजाने-अनचाहे! विवाहके बाद करीब दो महीने वह मेरे साथ रही होगी, पर एक दिन भी तो मेरे हृदयने उसे सम्पूर्ण स्वीकृति न दी। उसके लिए मेरा मन दयासे कातर अवश्य था. हाँ, एक दिन मैंने अपनी डायरीमें लिखा था—".. मेरे जीवनसे निरन्तर झरते करुणा-निर्झरमें वह बालिका शान्ति पाये। वह मेरे चरण पकडे बैठी रो रही है—वह मेरी बाँह थामे है। मैं आत्माके करुण आँसू आँखोमे भरकर प्रभुसे प्रार्थना कर रहा हूँ—'नाथ, इस अज्ञानिनी बालिकाको ज्ञानकी दिव्य प्रकाशमयी दृष्टि दो। यह मुझे अपना जीवन-सर्वस्व समझनेकी अपनी जातीय भूल न करे! यह अपनी स्वतन्त्र सत्ताको पहचाने, यह मोहमयी नारी है। अज्ञानके अंधेरेमें भटकी हुई है, यह अपनी आत्माको मुझमें न भुलाये, यह मेरी करुणामें आश्रय पाकर अपनेको पहचान सके .।' दुनियावाले मुझे कायर कहते हैं। वे अपने

सदियों पुराने सामाजिक माप-दण्ड पर मुझे कसकर मेरे व्यक्ति पर अपना निर्णय देना चाहते हैं। वे नैसर्गिक रूपसे पल्लवित-प्रफुल्लित होते, विविध शाखा-प्रशाखाओंमें फैलते, अनन्त गतिमे आकुल व्यक्तिके जीवनको सामाजिक नियम-विधानसे काट-छाँटकर, एक समाजके चौखटेमें फिट कर देना चाहते हैं। वे व्यक्तियोके स्वाभाविक विकास-विस्तार और प्रगतिको एक संकीर्ण दायरेमे सीमित कर, उनकी अन्त प्रेरित वेगवान शक्तियोंका गला घोंट देते हैं। समाजके जालिमाना नियत्रणसे कूट-पीटकर, अनन्त-शक्तियोके चूर-सीमेंटसे बनाये हुए सीधे-सपाट टार रोड पर चलनेवाले ही समाजके सभ्योंमें शुमार हो सकते हैं। अपनी शक्तियोंके पूर्ण वेगमें सामाजिक नीति-नियमोंकी अवहेलना कर ऊबड़-खाबड़, बीहड़ झाड़-झखाड़ो, चट्टानों-पत्थरोमें चलकर अपना रास्ता बनानेवाले कर्म-योगी समाजकी नज़रमें असभ्य, उच्छृङ्खल, विद्रोही, संहारक और पतित ठहरते हैं। वे तिरस्कार और लाञ्छनाके पात्र समझे जाते हैं। जो जीवनको प्रयोग-शाला मानता है, जीवनकी हर दिशामें प्रयोग करके आगे बढ जाना चाहता है, वह समाजको सह्य नहीं। मैंने विवाह किया है—मानव-भाग्यकी अन्तिम बेबसीकी सीमा-रेखा पर पहुँचकर। पर मैं उसे जीवनके एक विशिष्ट विभाग के साथ प्रयोग करनेसे ज़्यादा महत्त्व नहीं देता। दुनिया धोखेमे है, अगर वह समझती है कि मैंने विवाह करके उसके साथ समझौता किया है, और अब मैं कायर होकर उसके समझौतेकी शर्त्तोंका पालन नहीं कर रहा हूँ

अगर दुनियाने मेरी हसरतोंका खून किया है, मेरे अरमानोका गला घोंटा है, और मेरी प्रज्जवलनशील वासनाओं और शक्तियोंको अपने टार-रोड बनानेवाले इंजनके पहिये के नीचे दबाकर रौंदना चाहा है, तो उसे मेरे व्यक्तिसे ज़रूर धोखाखाना होगा...

वे मेरे उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य पर प्रश्न उठाते हैं। दुनियाके जबरदस्ती लादे गये उत्तरदायित्व और बन्धनको मैं स्वीकार नहीं करता। दुनियाके हवन-मन्त्रोंसे बनाये हुए दाम्भिक वैवाहिक-विधानकी सचाई और पवित्रतामें मेरा विश्वास नहीं। मैंने विवाहको उसकी सारी सीमा-मर्यादाओं और

जिम्मेदारियोंके साथ कभी स्वीकार न किया। इसी तरह दुनियाके बनाये हुए रूढ़ कर्तव्यों और दायित्वोंके प्रति भी मैं विद्रोही हूँ। वे मुझे मान्य नहीं हैं, मेरी आत्मा और मेरी मानवताका तकाजा ही मेरे कर्तव्याकर्तव्य, मेरे न्यायान्याय और मेरे औचित्यानौचित्यका निर्णायक होगा। मैं अपनी जिम्मेवारियाँ अपनी ही आत्मासे पूछूँगा। जगतको उसके लिए अपना सलाहगीर न बनाऊँगा। मुझे दुनियाके रूढ़ नीति-न्याय और कर्तव्य-विधानसे अपनी आत्मा और अपनी मानवतामें ज्यादा विश्वास है। जीवन की माँगपर मै लोकमत और शास्त्रोंका कायल न रहूँगा। अपना आत्म-निर्णय ही मेरा मार्गप्रदर्शक होगा। मैं तो मानता हूँ, सबकी अपनी सत्ता है और सबकी अपनी गति। कोई किसीके सुख दु खका अन्तत जिम्मेवार नहीं है। एक दूसरेके सुख-दु खके हम परस्पर तात्कालिक कारण हो सकते है, पर अन्तिम कारण तो हम स्वयम् ही हैं। हमी अपने सुख दु खके जिम्मेवार हैं—फिर उस लड़कीका दायित्व मुझ पर क्यों हो ? अपने सुख दु खकी वही स्वामिनी, निर्माता-भोक्ता है। मैं तो अपने दु खके लिए भी अपने हीको दोष देता हूँ--औरोंको नहीं। अनचाहे भी वह यदि जीवनमें आई है तो उसके लिए मैं क्या करनेको समर्थ हूँ ? वह और मैं दोनो ही नियतिके खिलौने हैं; कर्मोंकी लीलाभूमिके नट-नटी हैं। दोनो ही अपना निश्चित पार्ट लेकर आये हैं, तो खेल खेलेंगे ही, अनिवार्य सघर्ष होगा ही, कौन रोकनेमें समर्थ है उसे ?

अपने विवाहकी दिशामे मैं इसी स्पष्ट न्यायके साथ बढा हूँ। अपने व्यक्तिगत जीवनमें विवाहको अपने व्यक्तित्वके दायरेमें मैं नहीं ले सका हूँ। जीवनकी इस विराट प्रयोग-शालाका एक विभाग विवाह भी हो सकता है। उससे मुझे कोई आपत्ति नहीं है। मेरे भौतिक जीवनका अपना हिस्सा वह विभाग भी बटायेगा ही—पर मेरे सम्पूर्णको—वह एक क्षणके लिए भी उस दायरेमें न खींच सकेगा।

दुनिया पर मेरी दया और करुणाकी दृष्टि है। जो प्रेम और जो दया, जो सहानुभूति मैं चींटीसे लगाकर हाथी तकको दूँगा, वही मैं अपनी

पत्नीको भी दूँगा। कोई व्यक्तिगत स्नेह, शरीरकी सीमाओंमें पलनेवाला सीमामें रहकर ही असीम, अगाध, गाढ़ा होनेवाला स्नेह, प्रेम-प्रीति—मैं उसे न दे सका और शायद न दे सकूँगा। यानी मैं अपनी आत्माको खतरेमें डालकर उसे प्यार न कर सका। मेरी ऐसी मान्यता है कि प्रेमका वह सबसे ऊँचा स्तर है, जहाँ हम आत्माको खतरेमें डालकर किसीको प्रेम करते हैं—आत्मोपलब्धिके लिए—उसके और अपने बीचका अन्तिम भेद पानेके लिए। अपने साथ उसे मैं प्रेमकी उस आध्यात्मिक सतहपर नहीं ले जा सका, जहाँ शरीर और आत्माका युद्ध होता है। ऐसी कोई गहनता, ऐसा कोई रहस्याकर्षण मैंने उन आँखोंमें नहीं पाया, जो मुझे बेइख्तियार खींचता ही जाता, मुझे बेबस, बेकाबू कर देता। प्रेम करनेके लिए मानव किसी कर्त्तव्य या दायित्वसे बाध्य नहीं किया जा सकता। और प्रेम तो चिर उन्मुक्त है। बन्धन प्रेमको सह्य नहीं। विवाहकी लोहानी बेड़ियोंमें कैदी होकर प्रेम एक क्षण नहीं रह सकता। हवन-मन्त्रों और नियम विधानोंसे प्रेमको बन्दी बनानेके प्रयासी, रूढ़ियोंके गुलाम ये सामाजिक मानव, मानों हवा आग और समुद्रोंको बाँधनेका हास्यास्पद प्रयत्न करते दिखाई देते हैं। प्रेम बन्धन नहीं, आत्म-स्वातन्त्र्य है—विवाहमें प्रेमका सबसे बड़ा पतन होता है...'

और कई दिनों बाद, एक दिन मन खूब स्वस्थ था। खूब हल्का, मस्ताना-सा मूड था। कुछ शग़ल न था तो उठाकर पिछली डायरीके पन्ने ही उलटने लगा। अपने ही पीछे लिखे पर कुछ प्रत्यालोचन करनेकी जीमें आ गई। कलम उठाकर यों लिख चला—

'...म्याँ, शादी कोई फ़िलॉसफीका मसला नहीं है! उसे एक पेचीदा मनोवैज्ञानिक फिनॉमॅनन बनानेसे दुनियामें काम नहीं चलता। शादी एक उतनी ही भौतिक चीज़ है, जितनी कि रोटी। उसका अर्थ भी उतना ही सीधा-सच्चा है, जितना रोटीका। शादीकी भित्ति अन्तत कहीं न कहीं जाकर आर्थिक ही है। शादीको हम बड़े मजेमें एक आर्थिक संस्था कह सकते हैं। वह संगठन और शासन-नियमकी आवश्यकतासे प्रेरित होकर

ईजाद की गई एक सामाजिक सुविधा है। समाजके सगठनका भी मूल संचालन-सूत्र अर्थ ही है। मोटे तौर पर भी हम जीवनके प्रत्यक्ष उदाहरणोंमें देखते हैं कि अधिकाश शादियोंके निर्णय मूलत अर्थके आधार पर ही होते हैं। अनेक-विध धर्म-क्रियाओं, शास्त्रादेशो, मन्त्र-आहुतियों और अग्नि ज्वालाओंकी साक्षियोंसे विवाहको चाहे जितना पवित्रता और धार्मिकताका परिधान पहनाया जाय, अपने नग्न रूपमें विवाह बाजारके आर्थिक क्रय-विक्रयसे किसी कदर कम नहीं। ऐसे विवाह मानवीय विवाह नहीं हैं—वह धर्मकी आडमें होनेवाला व्यभिचार है। वह तो वह कसाई बाजार है—जहाँ मानवता बेबस होकर चाँदीके टुकडोंकी कीमत पर नीलाम पर चढ़ाई जाती है। दो मानव-प्राणियोंकी प्रकृति, अबाध निर्झर सी उन्मुक्त निसर्ग भावना धाराओंका स्वाभाविक, धार्मिक सम्मिलन विवाहमे नहीं होता। विवाहकी सस्था मानव जीवनको इतना अधिक जटिल बनानेके लिए सबसे अधिक जिम्मेवार है। विवाहके द्वारा व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र सत्ताको उत्सर्ग कर इस विश्व-यन्त्रका पुर्जा बन जाता है। वह अपनी शक्तियोंका सम्पूर्ण विकास, विस्तार नहीं कर सकता। ससार-यज्ञकी चिरन्तन ज्वालाको प्रज्ज्वलित रखने लिए विवाहमे हम आत्माहुति देते हैं

'यदि तुम जीवनको स्वीकार करते हो तो रोटीको अनिवार्य रूपसे स्वीकृति देनी ही होगी, और जीवन सदियोंके सस्कारो और रूढियोंकी शृङ्खलाओंसे बँधा हुआ है। मानव-सम्बन्धोंकी इन विषम उलझनोंमे होकर वह आज हमारे रक्तकी बेबसी हो गई है, हम समाजके अक्रिय अग बने हुए हैं। विवाह जीवनकी इसी भयंकर मजबूरीका परिणाम है। मानवका जीवन कितने ही अन्य अस्तित्वोंसे उलझा है। और उनके साथ उसके कुछ रूढ कर्तव्य नियत हो गये हैं—जिनमें न्याय और सत्य न रहते हुए भी मानव उनको स्वीकार करता है—क्योंकि वह जीना चाहता है। समाजको, अपने जीनेके टैक्सके रूपमें, अपना अस्तित्व दान करनेकी इसी बेबसी या कमजोरीको हम आत्म-बलिदानके गौरवमय नामसे पुकारते हैं—और उसका पूजन करते हैं। इस निष्कर्षपर पहुँचनेके बाद अगर कोई विवाह विद्रोही हो उठा है—तो उसे

समाज-विद्रोही होकर और अन्ततः जीवन विद्रोही होकर रहना होगा !—पर मै तो मानता हूँ, मैं जीवन-विद्रोही हूं, जीवनसे मुक्ति ही मेरा अभीष्ट है '

पर आज तो म जीवनकी जजीरोंसे बँधा हूं—और जीवनका यह जलता सत्य मेरे सामने है। उसकी बिदाके अन्तिम क्षणकी वह अश्रु निबिड दृष्टि और वह बिछुड़न-भरी हँसी—वह हाथ-जोड़े नत-शिर मुद्रा ! मै पिघल गया—मेरा सारा मन-प्राण विह्वल हो उठा। क्षण-भरको मै अपने अभीष्टके कैलाससे उतरकर उसके समर्पणके आँसुओंकी करुण गगामे बह गया। अरे, क्या ऐसी होती है नारीकी करुणा, कि हिमालयकी युगोकी एकनिष्ठ, अचल, दुर्द्धर्ष तपस्या एक क्षणमे उसके निगूढ मर्मस्थलसे गगा बनकर बह जाती है। नहीं समझमें आता है, इसे हिमालयका गौरव कहूं या पतन ? रास्तेमे सोच हो आया—क्या उसका नारीत्व ही उसकी ऐसी दयनीय मजबूरी है कि वह आत्म-दान, सर्वस्व दानके लिए इतनी अधिक आकुल व्याकुल है। आँसू यदि आत्म-निवेदनकी पवित्रतम मौन वाणी है, तो क्या वे आत्माको विश्व-जीवनसे बाँधनेवाली चिर-कालकी अखण्ड-जजीर भी नहीं हैं ? नहीं समझमे आता है, उसके समर्पणको उसकी विवश पराजय कहूं, या छलना भरी विजय ?

मेरे पास दो महीने रहकर भी मेरे अन्तरगकी वितृष्णा निर्ममता, कठोरता और स्नेहाभावको वह न पहचान सकी। मेरी छातीकी ऊष्मामें वह उसासे छोड़ती, आहे भरती, रो लेती—मानो वह सर्वस्व पा जाती। पर वह भोली क्या जाने कि वह मुझे नहीं पा सकी थी। मेरी गहरी निर्लिप्तता, आन्तरिक अनासक्ति और अनुत्साहको वह कभी न समझ सकी। कई बार हृदयका द्वार खोलकर उसने मेरे आगे याचना-प्रतीक्षा की आँखे बिछाई, पर मै एक सूखी मुस्कराहटके साथ सदा कठोर होकर विमुख हो गया। एक आँसू भरी वितृष्णा और कुण्ठासे मै भर आया। यह सब कुछ होते हुए भी आवश्यकता पड़नेपर मैंने अपनी आत्माको दबाया, अपनी भावनाओंको सर न उठाने दिया, अपनी इच्छा वासनाओंको कुचल डाला, अपनी अरमान-भरी जवानीके प्रवाहपर बाँध बाँधे—जब भी मेरे भीतरसे मानवताकी पुकार हुई। मैंने उसे अपनी बिटियाकी तरह पुचकारा, आँसू पोंछे, धीरज बँधाया, आश्वा-

मन दिया और छातीसे लगाया। उसकी सिसकी-सिसकी पर आहें भरीं। फिर भी मुझे यह स्वीकार करनेमें जरा भी लज्जा नहीं है कि मैंने उसे प्यार न किया। शायद एक बूँद भी स्नेह मैं उसे न दे सका। दया और करुणाके सिवा मेरे पास उसके लिए कुछ नहीं है—कुछ नहीं है—और न जगतके लिए कुछ है।

शायद उसके मनपर कभी किञ्चित् अविश्वास-आशङ्काकी छाया भी पड़ी हो—पर उसकी उन बड़ी बड़ी सरला आँखोंमें मैंने अविश्वास कभी नहीं देखा। वह तो मुझे दृढतासे पकड़े ही रही।

उसके लिए मेरे दिलमें कोई कशिश नहीं थी, खिंचाव नहीं था। हमारे शरीर मेगनेटोकी तरह खिंचकर जुड़-गुथ भले ही गये हों, पर उस देहालिङ्गन मे सचेतन सुख-भोग या आत्म-विभोरता कभी न आई। दो महीनोंसे बराबर वह मेरे इतने निकट रही है—पर वह चेहरा मेरी स्मृतिपर अपनी तस्वीर न उतार सका। मुखकी वह निराकार सूक्ष्म भाव-भंगी भले ही अपनी अनुभूति में मैं क्षणिक चक्षुष कर सकूँ, पर उसकी अनुपस्थितिमे उसकी सूर-सीरत मुझे कभी याद न रह सकी। जब भी वह सामने आई, निराशाकी एक नई थप्पड़-सी लगी। पर मैंने उसकी अवमानना न की, उसके सुख-सोहागका अनादर न किया। उसकी पूजाको झेलकर भी मैं अंगीकार न कर सका। चाहो तो इसे प्रवचना कह लो, छल कह लो—अपनी आश्रिताके साथ, पर वह मेरी लाचारी थी। उसका व्यक्तित्व मेरी आँखोंमें अखण्ड जीवन जोतकी तरह दीप्तिमान न हो सका। वह अति दुर्बल, लघुकाय, क्षुद्र, श्रीहीन-सी ही रही मेरी दृष्टिमें। वह मेरी युवा-नसोंकी रक्त-सरितामें कामनाकी तरंग न उठा सकी। वह रूपकी ज्वाला-सी उठकर मेरे रक्तमें यौवनका उन्माद न भर सकी—कर्मकी आग न लगा सकी। जीवनके उस केन्द्रसे कोई ऐसा आकर्षणका, इच्छाका प्रबल विद्युत्-सचार न हुआ, जो जीवनको एक महान कर्म बलके आवेगसे झनझना दे—आलोड़ित, उन्मादित कर दे।

जो कुछ भी हो—मैं तो केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि उसे देख सदा ही एक चिरन्तन् अतृप्ति हृदयसे झाँक उठी है। पर एक गहरी

उसाँससे मनपर आई विरक्तिको हटाकर मैने उसे छातीसे लगा लिया है। अपनी बच्चीकी तरह उसे अपने निकट सुविधासे रहने दिया है। चाहा है, उसके मनपर दु खकी छाया न पड़े। उसका सदा हँसता मुख हँसता ही रहे, वह हँसी कुम्हला न जाय। मेरी छातीकी ज्वालासे यह फूल फुलस न जाये। मेरे हृदयमें गड़े काँटोंसे यह सौरभ-भरा नवीन सुषुप्त हृदय भिदकर घायल न हो जाये।

पर जब तक वह मेरे पास थी, मेरे जीवनमे मानो वह कोई सत्य नहीं थी, मानो उसका कोई स्थान न था। कभी चाह-पूर्वक, इच्छा-पूर्वक अपने अन्दर लेकर मैने उसे न बसाया। निकटताके क्षणोंमें सदा छिटक गया,—मुँह मोड़ लिया, सोचता था—वह मुझसे भिन्न है, बिल्कुल बाहर है। उसके और मेरे बीच सदा एक दार्शनिक ध्वनि गूँज रही थी—'उसकी अपनी सत्ता है और उसकी अपनी गति—यह पारस्परिक आश्रय-आलम्बन तो मात्र आत्म छल है, आत्म-विस्मृति है।' कई बार मैंने कठोर मनसे सोचा है, यह लड़की है और नहीं है, मेरे लिए बराबर है। वह मेरे जीवनमें कोई अर्थ न पकड़ सकी, कोई सचाई न बना सकी। आज वह है, कल चली जाय—हमेशाके लिए, तब भी मुझे दु ख न होगा। वह अपने विछोहका कोई अभाव पीछे न छोड़ जायगी। जैसी अनपेक्षित आई है, वैसी ही चली जायगी। मैं हिमालयकी चट्टान था—और वैसा ही अचल, अडिग रहा हूँ। उसमें एक क्षण को भी मै अपनाव न जगा सका था। जब तक वह मेरे पास रही, एक अलगाव, एक दूरी बराबर बनी रही।

मुझे अपने ज्ञानमें दृढ श्रद्धा थी, अपनी बुद्धि और दर्शनमें मेरा अचल विश्वास था। मेरा यह दृढ विश्वास था कि मैं उसे प्यार न कर सका और न कर सकूँगा। इस लिए उसके वियोग-दु खकी आशका कभी मेरे मनपर न आ सकी थी ..

× × ×

पर वह सावनकी झड़ियोंकी रात क्या इस जीवनमें भूल सकूँगा? कितने जन्मातरों तक वह रात, उस अन्धकारमें बही वह अश्रु-धारा अविच्छिन्न बन्धन बनकर मुझे बाँधे रहेगी—नहीं जानता।

जानेके पाँच-छ दिन पहलेकी बात होगी—उसी दिन उसके 'बापूजी' शायद उसे लेने आये थे। बड़ी देर तक दियेके पास बैठी, चुपचाप वह अपना सीना-पिरोना करती रही थी,—रातके ग्यारह बजे तक—बिल्कुल खामोश। मुझे भी कुछ आश्चर्य तब जरूर हुआ था, जब वह बिना एक शब्द बोले ही आकर काममे लग गई थी। मैं भी मेरिडिथका Egoist पढनेमें ऐसा डूबा था कि उसकी मुझे कुछ खोज खबर ही न थी। कि अचानक एक दबी सिसकी ने मेरी तन्मयता भग कर दी। आँखें उठीं तो क्या देखता हूँ कि वह पास ही शैय्यापर सोई है—दूसरी ओर मुँह किये, आँचलसे मुँह ढाँके। सयम-पूर्वक दबाई गई सिसकियाँ मैं स्पष्ट अनुभव कर सका। यह अकारण रोना क्यों—इसे कौन-सा कष्ट है? समझनेकी कोशिशमें खामोश,—जाने कितनी देर मै किंकर्तव्य विमूढ सा बैठा रह गया। लेम्प बुझाकर दूर सरका दिया और बिना बोले ही मैंने उसे पास खींचना चाहा। निश्चेष्ट-सी वह खिंच आई, पर मुँह न उठाती थी। मैंने खींचकर उसके मुँहको छातीसे लगा लिया। वह बिसूर-बिसूरकर रोने लगी। मानों बाँध टूट गया है और रो-रो कर वह हृदयके टुकड़े कर डालेगी, छातीको चूर चूर कर देगी। उसे धीरज बँधानेके सारे प्रयत्न निष्फल थे। सम्हाली न सम्हलती थी—लाख पूछने पर भी कुछ कारण न बताती थी।

आखिर मै हार गया। उसे वहीं छोड़, एक रोषभरी झुंझलाहटके साथ बिस्तरसे उठकर नीचे पत्थरकी ठण्डी फर्शपर जा लेटा। बाहर अविराम झड़ियाँ बरस रही थीं, तीर-सी ठण्डी हवा चल रही थी। तब उससे रहा न गया। आकर उसने मुझे खींचा, मेरा माथा गोदमे रख लिया और अपनी सिसकियोंको दबाने लगी। उसके बिल्कुल शान्त होनेपर मैंने उससे रोनेका कारण पूछा, तो मलिन हँसी हँसकर आँसुओसे निखरे कठसे बोली—"यों ही छाती भरी आती थी। इसीसे रो पड़ी—कारण क्या होता?"

मेरे बहुत हठ करनेपर आखिर वह खुली—

"बापूजी आये हैं लेने—अब मै यहाँसे चली जाऊँगी। तुम यहाँ और मैं वहाँ, छ सौ मील दूर .. ऐसी ही न जाने क्या क्या बातें सोचते रोना आ गया ..."

उसकी आँखोंमें मैंने देखा, वह कुछ छुपा गई। मैंने कहा—"कहती-कहती बीचमें रुक क्यों गई? अपने मनकी बात मुझसे छुपाओगी?"

"कह तो रही हूँ—और क्या कहूँ?"

"जान पड़ता है, मुझे यह सजा देकर तुम्हारी तबीयत न भरी, क्यों? जैसी तुम्हारी इच्छा, मैं तुम्हें मजबूर न करूँगा।"

तभी मैंने उसका मुख ताकते हुए देखा, जैसे एक ठेसके साथ वे आँखें सजल हो उठीं। ओठ काटते हुए उसने दूसरी ओर मुँह फेर लिया और आँचलसे गाल ढँकती हुई काँपते स्वरमें बोली—

"मैं वहाँ इतनी दूर चली जाऊँगी तुम यहाँ अकेले ..मैं जानती हूँ तुम्हारी आदत .तुम सबसे अपना दुख छिपाकर अकेलेमें रोया करते हो... माँ बिचारी क्या जाने ..मेरे यहाँ होते हुए यह हालत है। मैं चली जाऊँगी, तब कौन देखनेवाला है .मैं भूली नहीं हूँ—उस दिन रात तुमने कहा था .. 'उस लड़की...'तारा' की याद जब आती है, तो सिर पछाड़-पछाड़कर रोनेको जी चाहता है' ..मुझे अब तुम्हारा विश्वास नहीं है, अकेले छोड़ते छाती काँपती है।"

मेरे अमेद्य ज्ञान-दर्शनके दुर्गकी सम्पूर्ण दीवारोंको भेदते हुए मेरे अन्तस्तलके मर्मस्थानमें एक तीव्र वज्राघात हुआ। मेरी आत्म-गुहाकी वह चट्टान फट पड़ी। भीतर जाकर उस बालिकाकी वह चिन्ता सहस्र-सहस्र रुलाईयोंमें गूज उठी।

× × ×

इन छ सात दिनोंमे जीवन एक अनजान उल्लासकी नव-चेतनासे आन्दोलित था। मुझमें खूब गति थी—और एक नवीन उत्साह मेरे चारों तरफ शारदीय प्रभातकी उजली धूप-सा फैला था। मुझमें इतना वेग था कि रुककर सोचनेका धैर्य मुझमें न था। मैं तो मानो बढा ही चला जा रहा था, अपनी दिशामें अकेला। मेरे पीछे कौन था, किसकी दो चिन्ताकुल काली आँखें थीं, यह मुड़कर देखनेका अवकाश मुझे न था। मेरे आत्म साम्राज्यमें

कौन कब आया, मुझे नहीं मालूम। मेरी साधना अपने ही एकान्तमें अकम्प दीप-शिखा-सी जल रही थी, तब आस पास भरी प्राण वायुकी सहज ही अवज्ञा हो रही थी। जो मेरे भीतर जल रहा था, वह मुझसे भिन्न होकर मेरे बाहरके ज्ञानका विषय कैसे होता, बाहरसे वह मेरी सज्ञामें कैसे आता?

छ दिनसे अविश्रान्त रूपसे लिखते रहनेके बाद—उस दिन शामको हलका होकर आत्म तृप्ति अनुभव करता हुआ मै कुछ अवकाशमें था। अचानक खबर मिली, वह कल सवेरे जा रही है—अपने बापूजीके साथ। ठीक है—आखिर वह जाने ही वाली थी। जायगी—तो चली जायगी। उसके आने ही को मैंने कब स्वीकृति दी है—जो जानेको महत्व दूँ। जीवनमें आकर उसने मेरे किसी रिक्तको न भरा, फिर खाली क्या होगा? वह जायगी तो एक बड़े भारी द्वन्द्वसे छुट्टी पा जाऊगा। 'उसकी अपनी सत्ता है—और उसकी अपनी गति।' मैं उसे रोकने वाला आखिर हूँ ही कौन? वह मेरे आत्म-विकासके मार्गमें नहीं आ सकती—और न मै उसके मार्गमें बाधक होना चाहूँगा।

मै तो अन्तिम क्षण तक न जान पाया कि वह चली जायगी—आज ही, अभी, गाड़ीके रवानगीके वक्त, सवेरे दस बजके ठीक पन्द्रह मिनट-पर भी, झडी, सिगनल हो जाने तक भी, उसका जाना मुझमें कोई अर्थ न बना सका। क्योकि उसके जाने न जानेमे मेरा कोई वास्ता न था। मुझे अपनी निर्ममतापर विश्वास था।

वह ट्रेनकी उस खिड़कीमें खड़ी थी, लवेण्डर रंगकी साडी पहने। उन अश्रु-वि ह्वल आंखोका वह आत्म निवेदन और वह हाथ जोड़े विनम्र, नतशिर मुद्रा—और गाडी चल दी—धड़-धड़—धड़ड-धडड़, धरतीकी छाती को हिलाती हुई।

और मेरे शरीरके रोम-रोमसे यह सत्यकी ज्वाला फूट पड़ी—कि वह चली गई! उस ज्वालाको मैं इनकार न कर सकूँगा—किसी भी बड़ी से बड़ी दार्शनिक भाषामें। और मेरे आस-पास के सारे जड़-जगतके अणु-अणुमें गूँज उठा कि, वह चली गई—सारे विश्वमें अपना अभाव छोड़कर।

मै सोच उठा—मानो जीवनसे अगर बँधा हूँ—तो जगतसे बँधकर रहने को मैं विवश हूँ—और जगतकी जजीर हम दोनोको बाँधे बगैर न रह सकेगी। क्या यही है जीवनी-शक्तिका तकाजा ? पर मैं तो जीवन-विद्रोही हूँ—जीवनी-शक्तिसे युद्ध करके मैं उस पर विजय प्राप्त करना चाहता हूँ ?

पर यह सब कुछ आज मैं नहीं सोच सकूँगा, एक ही प्रश्न मुझमें सुलग रहा है—जो सारे विश्वमें अभावका शून्य छोड़कर गई है—वह मेरे जीवन में किस निगूढ अन्तर्द्वारसे घुसी थी—नहीं समझमें आता—नहीं समझमें आता ?

समझमे आ रहा है आज केवल एक सत्य—'वह चली गई ! वह चली गई !'

६

मारक कि तारक ?

चन्द्रभागा नदी जहाँ शहर को दो भागोंमें बाँटती है, वहीं नदीके एक ओरसे सड़क गई है—मच्छी-बजार। नागरिकों के लिये मास और मछली यहां मिलती है। शराब की दूकानें भी हैं। कहीं जुआरी अड्डे भी हो सकते हैं। रात में सिनेमा-घर के आस पास काफी शोरगुल, हल्कापन रहता है। स्त्री का वहां से गुजरना सुरक्षित नहीं। आगे चलकर रानीपुरा रोड लग जाती है, मुसलमानी बस्ती है। पान की दूकानें, भड़कीले होटल, और रंग-बिरंगे जापानी कपड़ों से झलमलाती कपड़ों की दूकानें।

रानीपुरे से जो मच्छी-बजारकी तरफ थोड़ा सा उतार पड़ता है, वहीं से नदी-किनारे का तार का फेंसिंग शुरू होता है। कुछ दूर चलकर इस तार-फेंसिंगसे परे होकर, नदी की ओर झुका हुआ एक पीर का मजार है। नदी के पाट में उगे एक झाड़ की छाया उसपर हो गई है। चबूतरे का आँगन लिपा रहता है और उस पर हरे शामियाने से ढका वह मजार है। फूल का एक

ार उस पर चढा रहता है। अगरबत्ती, लोबान जलता रहता है। कुछ साँई, फ़कीर वहाँ बैठे रहा करते हैं।

रात के कोई आठ नौ बजे का वक्त होगा। एक राहगीर वहां से गुज़रा और मजारसे कुछ दूर जाकर नदी किनारे के ढाल पर लघुशङ्का निवारण को बैठ गया।

ज्योही वह उठ कर सड़क की तरफ मुखातिब हुआ कि उसके बाईं गालपर बिजली की तरह बेमाख्ता एक थप्पड़ पड़ा। पगड़ी उसकी नदी की तरफ जा गिरी, और वह सन्नायासा खड़ा रह गया। गाल पर हाथ फेरते हुए उसने एक बार अपने प्रहारक को, मौन गहरी नजर से देखा। फिर नीचे झुक कर पगड़ी उठाली और धूल झटक कर सिर पर पहन ली।

तब चुप-चाप धीरे से अपने प्रहारक के पास आकर अविचलित, विनीत स्वर में बोला—

"आप मुझे माफ नही करेंगे .? आपकी हथेली में चोट लगी होगी!"

घनी गहरी भौओं मे दीप्त हसी हसती हुई, चिरागोसी दो आँखें उसने ऊपर उठा कर एक बार अपने प्रहारककी ओर देखा—निर्द्वन्द्व भावसे। और बिना क्षण-भर ठहरे चुप-चाप वह चल दिया। फिर उसने मुड़कर नहीं देखा।

पीरका मुरीद वह फकीर स्तब्ध खड़ा देखता रह गया। वह पगड़ीवाला आदमी जा रहा है—चला जा रहा है। हॉ, वह मुड़कर नहीं देखेगा। और देखते-देखते दूरके चमकते दियोवाली सड़कके विराट जनालयमे वह खोगया। व्यक्ति मनुष्यका वह एक बिन्दु, महा मानवसिन्धुमे लय होगया!

.. और वह फकीर छाती पर हाथ रखकर, पत्थर-सा अचल खड़ा, एकाग्र दृष्टि से उस ओर देख रहा था! पर भीतर उसके समस्त प्राण में एक भूचाल, एक तूफान बरपा हो गया। आँखो मे चारों तरफ की दुनिया जैसे चक्कर काट रही है। सब कुछ घूम रहा है—चक्र चल रहा है। धरती हिल रही है—विप्लवकी अदम्य झंझाएँ मण्डरा रही हैं। उसके आस-पास चारो ओर सब कुछ उथल पुथल, उलट-पुलट हो रहा है। भीतर जो कुछ बना था, वह सब धड़ाधड़ाकर टूट-टूट रहा है, गिर रहा है—चूर-चूर हो रहा है। नदीके उस पारका वह मन्दिर गिर रहा है। इस पारकी यह मस्जिद गिर रही

है ।

और उस ध्वसमें होकर उसकी आत्मामें एक प्रश्न गूँज उठा है—"मैंने गुन्हा किया है ? पर आदमी वह तो खो गया सडक में ! क्या वह लौट नहीं सकेगा...? हजरते इन्सान खुदा भी मुआफ न कर सकेगा, अगर . अगर तूने न किया !"

'मैंने गुन्हा किया है ?' शरीरकी शिरा शिरामें वही बात प्रतिध्वनित हो उठ रही है । साथियोंने उसे लेजाकर खानेके दस्तरखानपर बिठाया । पर उसे कहाँ भान है ? वह गुमराह था—और भीतर ही भीतर अपनेको मथ रहा था । वह सामनेकी रोटी मानो गुन्हा बनकर उसे घूर रही थी । आत्म परिताप, आत्म-विद्रोह !

वह काँप उठा, वह बिल-बिलाकर रो उठा । आस-पासके फकीर-साई बड़ी परेशानीमे पड गये । वह सोया पड़ा था और कभी-कभी रुदन-कातर आवाजमें चिल्ला उठता था—

"या रहीम, या करीम, मेरे रसूलिल्लाह, मैंने गुन्हा किया है बहुत बडा गुन्हा किया है । इससे मै निजात नहीं पा सकता । तू रहम कर खुदावन्द...तू मुझे अपने कदमोंमें लेले और वह आदमी. क्या वह लौटेगा ?"

रात भर पड़े पडे वह ऐसी ही करोड़-करोड़ आर्जू-मिन्नते, दुआएँ अपने खुदावन्दा रसूलसे करता रहा । आँसू उसकी आँखोंसे बेइख्तियार बह रहे थे । और साथी फकीर अचम्भेमें थे कि आखिर इस गुन्हेका राज क्या है ? बल्कि पिछली शाम इसने तो बडे सवाबका काम किया था कि एक काफिर को बेजा हर्कत करनेपर इसने माकूल सजा दी थी—ऐसी कि वह भी याद करे ।

...आकाशमें सवेरेके भाग फट रहे थे । मुर्गेने कहीं बाँग दी । नदीके इस पारवाली मस्जिदपर मुल्लाने अजाँ दी और उस पारवाले मन्दिरमें घण्टा बज उठा ।

और ठीक उसी अविभाज्य मुहूर्त-क्षणमें फ़कीरने दम तोड़ दिया ।

क्या वह रातवाला राहगीर हत्यारा था ? या फ़कीरने आत्म-हत्या कर ली...?

१०

अनन्तकी डायरीसे

[कवि-मित्र अनन्त अब इस ससारमें नहीं है। बनके फूलकी तरह, किसी अज्ञात एकान्तमें, अपना सौन्दर्य सम्पुट पूरा खोलनेके पहले ही, एक सॉझ वह झर गया। हृदयकी दिव्य कोमलता, अलौकिक सारल्य और भावुकता, ये उसके जन्म-जात अपराध थे, और एक दिन उसे इन्हींके हाथों अपना जीवन उत्सर्ग कर देना पड़ा। सौन्दर्यके लिए उसकी आत्मामें एक बालककी-सी अबोध परन्तु उत्कट आकुलता थी, एक चिरकालके सचित बिछोहका सवेदन था। अपार वासना-तृष्णाके खतरनाक हिलोरोंपर मैंने उसे बेकाबू खेलता पाया, खींचना चाहा, पर वह हँसकर बहता ही चला गया और हाथ नहीं आया। अनन्तमें विराट स्वप्नशीलता थी, दर्शन था, और एक युगान्तर-द्दष्टाका विचार सन्धान था। पर उसके छोटेसे कोमल सीनेमें प्यार इतना देनेको था कि उसे झेलनेवाला इस दुनियामें जैसे उसे कोई मिला ही नहीं, और शायद वह खुद भी उसे न सम्हाल सका। इसी लिये एक दिन प्रेमकी वह अखण्ड लौ उस सीनेकी काराको तोड़कर विराटमें लीन हो गई। उसकी मृत्युका निदान मैं यही पा सका हूँ। सुख-सुविधाकी गोद पले बौद्धिक और आदर्शवादी मित्रोंके खयाल

में वह एक दुर्बलकी आत्म-हत्या थी ! जो चाहें आप कहलें । प्रभुकी सृष्टिमें एक नग्न बालककी तरह उसने निर्बाध रमण किया, और अपनी कथा, हृदय-रक्तकी आग्नेय भाषामें वह खुली लिख गया है । मानवीय कामना-तृष्णाकी विफलताकी जो ट्रेजेडी, हर मनुष्यके अन्तरतममें दिन-रात चल रही है, पर अक्सर जिसे साहित्यमे उज्ज्वल वस्त्र पहनाकर एक स्थायी धोखेका निर्माण किया जाता है, उस ट्रेजेडीकी मर्म-कथाको इस डायरीके पत्रोमें मैने दहकते अगारोसा बिखरा पाया । अनन्त इतना मासूम था कि पतन और पापकी भाषासे तो वह परिचित ही नहीं था । फिर दुराव उसमें कहाँसे आता ।

आजसे करीब दो बरस पहले, अपने सारे कागज-पत्तर मुझे धरोहरकी तरह सौपकर, एक रात बम्बईमे वह मुझसे बिदा हुआ —था कलकत्ता जानेके लिए, सो फिर वह नही लौटा । इस बीच मे घर चला आया था । कोई साल भर बाद, बम्बईके मेरे एक पारसी मित्रने मुझे सूचित किया—कि अनन्तकी लाश 'नेपियनसी साइड' के किसी निर्जन, wild समुद्रतटकी चट्टानोमे पड़ी मिली थी, जल-जर्जर पाषाणो और भयावने सामुद्रिक कीड़ोंके बीच । समुद्रकी लहरें उसके बालोमे आकर टूट रही थीं—और वह ऐसे लेटा था—जैसे उस अकूल जलराशिको अपनी उठी हुई भुजाओंमें बाँध लेनेको आतुर हो उठा हो । अनन्तकी कई सौ कविताएँ और दस-बारह डायरियाँ मुझे उसके कागजोमें मिली हैं । उसकी एक डायरीके मुख-पृष्ठपर यह आदेश लिखा है—'अन्धकारमे दफना देनेके लिये यह किसी दुर्बल का एकान्त-रुदन नही है, दिनके प्रकाश-फलकपर ये जलते हुए जीवनकी लकीरें हैं । जो चाहे इन्हें पढे । छुपानेका क्या प्रयोजन हो सकता है ? और गोपन पाप है " आदि आदि । तब सोचा कि इस आगको छुपाकर रखनेका अधिकार मुझे नहीं है । और यदि वैसा करूँगा तो अपने स्वर्गीय मित्रकी आत्माके प्रति मुझसे अन्याय होगा । इसीलिये ये पन्ने नीचे प्रस्तुत हैं । समय समयपर इस डायरीके अश इसी तरह बराबर प्रकाशमें आते चले जाये, ऐसी मेरी इच्छा है ।——वीरेन्द्रकुमार]

१० नवम्बर, १९३७, बम्बई।

पिछले चार-पाँच दिनोंसे सबेरे 'हेंगिंग-गार्डन' जाने लगा हूँ—घूमने। वहाँ मेरे लिये सबसे आकर्षक वस्तु है—उस पूर्वीय रेलिंगके पास खड़े होकर समुद्रको देखना। प्रभातकी नीहार-बेलामें कुहराच्छन्न अनन्त शून्यमे, महाकाश और महासागरका वह एकाकार होना! वह दूर सुदूर नील-हरित, धुँधली सी जल-क्षितिजकी रेखा—उसमे एकाकी आत्मा-सी विहार करती वह प्रभात बालिका—कोई चिड़िया, वह अनन्तकी सन्देश-वाहिका, जो सागर-लहरोंमें अपना गान बिखेरती हुई जाने कहाँ लय हो जाती है। नीहाराच्छन्न सागरके उस महा जल-विस्तारके पार्श्व पर वृक्षकी विरल-पल्लव डालके सिरे पर बैठकर वह पक्षियोंका गाना। उस उगी वनस्पति और घास-तृणके अन्तरालमे झाँकती सागरकी वह कुहरिल नीलिमा। उस रेलिंगके पास खड़े होनेपर क्षणभरको जैसे मेरी आत्मा, अपने सीमा-बन्धनोंसे मुक्त हो—उस विराट सौन्दर्यमे लीन हो जाती है। . .

कल पश्चिमीघाटकी काली पर्वत-रेखापरसे, स्वर्ण कलशकी तरह उदय होते बालारुणकी अपूर्व छटा देखी—मानो आत्म-तेजके दर्शन हुए हों, मेरा मस्तक झुक गया अपने भीतरकी महानताके प्रति!

हेंगिग गार्डनकी घाटीसे उतरते हुए—एक बेचारा एक रूमाल गिरा हुआ दीखा—लपककर उसे उठा लिया एक heroic air के साथ। मनमें रस-कथाओंकी पिटारी खुल पड़ी—रोमान्सके सपने तैरने लगे। खोल कर देखा—उसमें पानके दाग लगे थे और बदबू मार रहा था! किसी कुमारिकाकी कोमल पल्लव हथेलीके स्पर्श जाने कहाँ विलीन हो गये! और आखिर वह रूमाल उस पारकी घाटीमे फेंक दिया गया!

घूमकर लौटते हुए रास्तेमें वही Young-Couple (तरुण-युगल) मिला। उन्हें देखकर मुझे शैले और हेरियटके किशोर-युगलका खयाल हो आता है। पर शैले और हेरियटकी वह बिछोह-कथा क्या एक दिन इनके बीच भी सच हो सकती है? पूर्ण सौन्दर्यकी इस सुसत्वादिना

(Harmony) में यह कठोर वास्तवसे प्रेरित सन्देहका आघात जैसे मेरे मनमे बरबस हो आ जाता है। ओह ! मानवका सुख इतना सन्दिग्ध है, इतना अनिश्चित और क्षणिक ?

३१ जुलाई, १९३९, बम्बई

.हिन्दुस्तानकी राजनीतिके महानतम व्यक्तित्वोंमें जो संघर्ष इन दिनों है—उसे मैं भी अपने अन्तरतममें पा रहा हूँ। बुद्धिसे सोचकर मैं साफ देख पाता हूँ—कि सार्वभौम कल्याणकी उपलब्धि अन्तत गाँधीके ही रास्ते चल कर होनी है। पर मस्तिष्क की सतह तक मैं हृदयको नहीं ले जा सका हूँ। मुझमें उग्रता है, उत्तेजना है, क्रोध है, हिंसा है—और प्रतिशोधका भाव भी। जीवनमें स्थूल या सूक्ष्म रूपमें ये सारी चीजें क्रियाशील हैं। देशकी समस्या पर, धर्म और समाजकी समस्याओं पर मै कई बार काफी उग्रता और तीव्रतासे सोचने लगता हूँ। हृदयमें असंयत, अविवेकपूर्ण अन्ध-विस्फोटका तकाजा कई बार उमड़ आता है। बर्दाश्त और धैर्य मुझमें कम है। सहारको मैं क्रान्तिकी शर्त Insticntivety (सहज बुद्धिसे) सदा ही मान लेता हूँ। क्रान्तिके लिए मुझमें कभी-कभी एक असह्य, दुर्दमनीय कसमसाहट सी होने लगती है। जैसे अब और एक मिनट भी नहीं ठहर सकूँगा—और यह जलता हुआ क्षण जो सम्मुख है, दुर्निवार है। शोषित, श्रमिक, सर्वहारा वर्गके प्रपीड़नके जो नज़ारे मै इस ऐश्वर्यशाली बम्बईके वैभवसे उभरते सीनेके नीचे नरकानलकी तरह सुलगते देखता हूँ, तो मेरी आत्मा आग्नेय हो उठती है। मैं एक सार्वदेशीय विप्लव-सहार और मागलिक परिवर्तनके लिए बेचैन हो उठता हूँ। अरे मानवका ऐसा अनादर, ऐसा पतन और पीड़न ?—असह्य है यह। पर क्रान्तिके साधनोंकी बात पर आते ही मैं फिर सतर्क हो जाता हूँ—विचारशील हो जाता हूँ। अपने भीतरके तूफान पर नियन्त्रण करता हूँ। चीज़ोंका बौद्धिक और वैज्ञानिक विश्लेषण करता हूँ।

कभी-कभी गाँधीके व्यक्तित्वको भी मैं सन्देहकी दृष्टिसे देख उठता हूँ। मेरे स्वप्नका गाँधी, वास्तवके गाँधीमें मुझे कभी कभी Frustrate (छिन्न-भिन्न) होता दिखाई देता है। राजनीतिक संघर्षोंसे व्यभिचरित गाँधी

के व्यक्तित्वको कभी-कभी जब मैं अपने स्वप्नके गाँधीसे Identify (तादात्म्य) नहीं कर पाता हूँ, तब मुझमें एक तीव्र वेदना होती हैं। मुझे अपनी आखों आगे, एक युगकी विफलत प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने लगती है। पर तभी गाँधीका युग विधाता व्यक्तित्व सामने आता है, जिसने अराजकतामे भटकी हुई हिन्दुस्तानकी राजनीतिको एक निश्चित दिशा दिखाई, और देशके अपने समय के प्रखरतम राजनीतिक मस्तिष्कोंसे टक्कर लेते हुए सबको अपने प्रेमके साये में लेकर बीस वर्ष तक जो एक व्यक्ति सारी शक्तियोंको काबूमें रख, देश का एकच्छत्र नेतृत्व करता रहा। जिसने समस्त भारतवर्षके हृदय पर अपने प्रेमका अखण्ड साम्राज्य स्थापित किया, कॉग्रेस को जिसने सब से पहले लड़ाका और क्रन्तिकारी बनाया, हिमालय से कन्याकुमारी तक जिसने राष्ट्रीय जागृति की एक लहर-सी दौड़ा दी, आज के क्रान्तिकारी भारतवर्ष का जो सब से पहला मसीहा है, ग्रामोद्योग, खादी, चर्खा आदि के अपने रचनात्मक कार्य-क्रमके द्वारा जिसने देशके जीवनको आत्म-स्वातन्त्र्यके सच्चे मन्त्रसे प्राणान्वित कर दिया, उस महान युग-विधाता कर्म-योगी गाँधी पर और ऐसे क्षुद्र सदेहकी दृष्टि ? पर मुख्तलिफ बातों पर गाँधीजीकी खामोशी और अनभिज्ञता-प्रदर्शन मुझे दुखदाई लगता है। उससे मुझे आत्म-वेदना होती है।

एक बात मै बड़े वेगसे महसूस करता हूँ, गाँधियन Ideology (सिद्धान्त) को बहुत जल्द एक सुनिश्चित, सुनिर्दिष्ट, व्यवहारिक टेकनालॉजी बन जाना होगा। अहिंसाके शस्त्रके राजनैतिक प्रयोगके लिये, विभिन्न उदाहरणों और प्रयोगोंके द्वारा अहिंसाको एक व्यवहार्य विज्ञान (ahhied Science) बनाना होगा। वैविध्य के साथ हमारी जीवन-समस्याओं के विभिन्न पहलुओंको लेकर उनमें अहिंसाका ठीक-ठीक उपयोग कैसे हो सकेगा, इस दृष्टिसे उसके लिए लोकोपयोगी व्यवहार-मार्ग बनाना पड़ेगा। धर्म के व्यवहार और निश्चय-मार्ग वाले दोनों मूल्यों को ठीक-ठीक सन्तुलित करना होगा। गाँधीज़्म का सब से बड़ा खतरा धर्म के व्यवहार और निश्चय-मार्ग की उलझन है। अहिंसा की जिस धार्मिक बारीकी पर गाँधी जी इन दिनों ज़ोर दे रहे हैं, समाज-सम्बन्धों की रोज़-बरोज़ की लोक-नीति अथवा राजनीति में वह कहाँ

तक वह व्यवहार्य है, इसमें मुझे सन्देह है। व्यक्ति धर्मसे जहाँ तक वास्ता है, गाँधीजीकी अहिंसात्मक आचरणकी बारीकी व्यवहार्य है और वाञ्छनीय तो है ही, पर समाज धर्मकी दृष्टिसे व्यवहारिक हिंसाकी अनिवार्यताको स्वीकार करना ही पड़ता है। अहिंसाकी आदर्श सामाजिक स्थिति उपस्थित करने तक, भारतवर्षके स्वातन्त्र्य सग्राम और राजनीतिक आन्दोलनको मुल्तवी किये रखना तो शायद आज देश स्वीकार न करेगा। यह माना जा सकता है कि हमारे अगले युद्धके लिए यह समय अनुपयुक्त है, पर तब यों वैधानिक मार्ग अख्तियार कर खामोश बैठे रहने जितना धैर्य भी आज देशमें नहीं है। यदि आज देश युद्धके लिए तैयार नहीं है, तो खाली यह कह देने भरसे तो सन्तोष नहीं हो सकता—कि 'देशमें भयकर हिंसाका वातावरण है—और मुझे हवामें हिंसाकी गन्ध आ रही है।' जरूरत यह है कि देशमे अहिंसाका वातावरण उत्पन्न करनेका कुछ सक्रिय प्रोग्राम फौरन ही प्रारम्भ होना चाहिए। अहिंसात्मक शस्त्र-शिक्षणका बिल्कुल Concrete, systematic Schooling प्रोग्राम होना चाहिए। अहिंसाके व्यवहार-दर्शनपर वैज्ञानिक, लोकोपयोगी साहित्य, अति सरल-सुबोध भाषामें ढेरोंसे निकलना चाहिए। बाइबिलके मिशनरी-साहित्यकी भाँति अनेक छोटी छोटी बुकलेट्स, पेम्फलेटस, बड़ी-छोटी सब तरहकी पुस्तके प्रचुर मात्रामे सस्ती कीमतपर निकलनी चाहिए। ताकि एक सिरेसे देशमें एक नवचेतन और नवीन जागृति पैदा हो सके। Nonvoilent Militia (अहिंसात्मक सेना) का आयोजन बड़ी ही तेज रफ्तारसे होना चाहिए। खूब ही सुशिक्षित, सुसगठित, अहिंसात्मक सेना, आजके हमारे काँग्रेसके रचनात्मक कार्यक्रमका सबसे पहला आइटम होना चाहिए। पर इस पार्टीबन्दीके झमेलेमे दोनों ही दल इस कदर कशमकशमें पड़े हुए हैं कि रचनात्मक कार्यक्रम जाने कहाँ धरा रह गया है।

२६ सितम्बर, १९३९

यह जीवन भी क्या एक बेलगाम रेस है। काबूकी बात हम चाहे जितनी कहें, पर बाहरकी शक्तियोंका दबाव और उससे जीवनको लगने वाले

निर्लक्ष्य धक्के कई बार सम्हाले नहीं सम्हलते। सो योंही धक्कमधक्का, कशमकश करते हुए बढ़ना पड़ रहा है। जीवन भटकता है, चक्कर खाता है, भँवरोंमें फँसता है, पतनके खतरनाक कँगूरोंपर चलता है, गिर भी पड़ता है, फिर उठता है, फिर दौड़ता है, फिर वही राहकी भीड़की धुक्कम धुक्की, मुक्कामुक्की अस्तित्व-संघर्ष। इस बीच बहुत दिनों बाद किनारा मिला है। जीवनमें Impulses (उमंगों) और sensetions (भावावेश) का प्रभुत्व है। विचारकी सतर्कता पल-पल है, पर कर्मकी कम है। कर्मपर विचार पहरा नहीं देता। कर्म, भावना और अनुभूतियोंके आवेशमें उन्मुक्त बहता चलता है। भावनाओंके अन्धडमें कई बार सारी बुद्धि और संचित ज्ञान मात्र भ्रम बनकर, भँवर बनकर चक्कर काटने लगते हैं—खत्म हो जाते हैं। वासनाकी झंझाएँ जीवनके आकाशमें मँडरा रही हैं। समस्त प्राण आलोड़ित होता हुआ मानो थरथरा रहा है। आत्मा अत्यन्त जर्जर, अस्थिर और क्षत विक्षत हो गया है। मानो बन्धन सीमाएँ अब असह्य हैं—और बन्दी चेतन देहकी वज्र-दीवारोंपर पछाड़ें खा रहा है। अरे, यह कैसा उत्पीड़न-आलोड़न है, यह कैसा भयङ्कर विष मन्थन है। क्या इस विषय-मन्थनमेंसे किसी दिन अमृत हाथ लग सकेगा? वासना-कामनाकी इन सर्पिणियोंको यों हृदयका खून पिलाकर पालने और क्रीड़ा करते रहनेमें, किसी दिन भीतर ही भीतर संचित हो रहे ज्वालामुखीका विस्फोट हो गया तो? सारा अस्तित्व सत्यानाशकी उस ज्वालामें जलकर भस्म हो जायगा। मैंने छोटीसे छोटी लहरके लहरानेके नाजो-अन्दाजसे छेड़खानी करनी चाही, उसे अपने दिलमें गिरफ्तार कर लेना चाहा। मैंने चाहा, देखूँ—किसमें कितना यौवन-उद्वेलन है—चाहा कि अपने हृदय-तट पर इन सारी लहरोंके आकुल आघातोंको सहूँ, इनका पीड़न-प्रहार सहूँ। इस रक्त-सागरकी तरंगोंको भेद—इसमें खूब गहरे उतर कर इसका तल पा सकूँ। कैसी दुर्निवार, दुरन्त कामना उत्कण्ठा है यह!

११

हृदयकी रीत

गन्धर्व-कन्याओंके संगीत-सा लहरेल उसका लावण्य था, और नन्दनकी अप्सराओंके केश-राग गंधसे भरा यौवन। पर कौमार्यके हिम-कठिन आँचलसे वह ढका हुआ था।

उस अबोधताकी डाल पर बैठकर, प्रणयकी कोयल संसारकी आँखोंमें मद भर रही थी। और वह, वह तो ताकती रह जाती, एक चिर कुतूहलमय भोले इशारे-सी।

सन्ध्याके समय, नगरकी अन्य मालिनोंकी भीड़में वह भी मन्दिरके सिंह-द्वारकी सीढ़ियोंके नीचे, पाषाणके चबूतरेपर बैठा करती—एक केलेके पत्ते पर पाँच चम्पेकी कलियाँ लेकर। वह शिरीषके कर्णफूल पहनती और भुजाओं पर मृणालके भुजबंध बाँधती, वेणीमें श्वेत कमल-कोरक खोंस लेती और गलेमें जवा-कुसुमकी माला। नाम था उसका रेणु—फूल रेणु!

उपवनकी डालपरके पलनेमे जब शैशवके दिनोंमें वह झूलाँ करती, तभी माँकी लोरियोंने उसमें एक राज रानीकी प्रतिष्ठा कर दी थी। बाल्यकालमें माँकी गोदमें बैठ राज-प्रासादके अन्त पुरके वैभवकी कहानिया उसने सुनी थी। और जब वह कैशोर्यके केशर-काननमें आकर—भूली-भोरी सी खड़ी हो गई, तो दिशाओंके छोरोमें दृष्टि खोये अपने सपनोंको खोजने लगी।-- घिरी बदलियों की दुपहरीमें अपने उपवनके आँगनमें खड़ी हो, अजन छायासे छायी वन राजिके पार, राज-महलोंके गभीर गरिमा-मण्डित स्फटिकके शिखरोंको वह निहारती रह जाती। माँके गीतो और कहानियोंका बसाया हुआ मनके भीतरका मुकुलित कल्प लोक जाग उठता। उसकी आँखोमें सपने तैर उठते!

मणि-दीपोंसे जगमगाते रत्न-जटित शयन-कक्षकी अटापर उसकी शैया बिछी है...शयनकी मसहरीमें चन्द्रकान्त-मणिकी झालरें लटकी हैं। चन्द्रकी किरणे उन झालरोपर पड़ रही हैं—और भीने-भीने सुगन्धित जल-सीकर उस शैयापर झर रहे हैं। आधी सेज पर वह लेटी है—पर हाय, आधी सेज तो सूनी ही पड़ी है! वह पाती कि, सरोवरके तटपर वह राजहंसोंके साथ खेल रही है।...अरे वह तो स्फटिकके घाटवाले तलावमें, चाँदनी रातमें अपनी सहेलियोके साथ—नौका-विहार कर रही है। उसकी लज्जाकी ओट उसका प्यारा राजकुमार बैठा है, और उसके साथ बैठी है वह—पन्नेके पलगपर। चाँदनीमें उसका हरित-शीतल आलोक बिखर रहा है।

. और फिर धूमिल बादलोंसे आवृत्त प्रासाद-शिखरपर उसकी विभोर आँखे जा बिखती। अर्ध राज-सिंहासनासीन होनेके गर्वसे वह झूम उठती। पर आधे राज-सिंहासनकी रिक्तता उस कौमार्यके पावन वक्षमें कसक उठती।

रस-सम्भारसे आनत कादम्बिनि-माला सा यौवन जब भर आया, तो उसकी आँखे पद-पदपर किसी राज-पुरुषके स्वर्ण-खचित पादुका वाले किन्हीं गौर चरणोंकी खोजमें ढुलक पड़तीं।

उस सरला फूल-रेणुने उस दिन सुनाकि महाराज कुमार सन्ध्या-काल मन्दिरमें दर्शनार्थ आनेवाले हैं। और रोजकी तरह, वह वैसी ही वहाँ बैठी थी, केलेके पत्तेपर पाँच चम्पेकी कलियाँ सजाये। घुटनेपर ठुड्डी टिकाये वह राजकुमार

के आगमनके लिये बिछे पाँवड़ोंपर, अपनी आँखोंका सरलपन बिछा रही थी। राजकुमारका रथ आकर मन्दिरके द्वारपर रुका। जय-घोषसे मन्दिरका प्रागण गूँज उठा। पाषाणके चबूतरोंपर धूपदानमेंसे गन्ध धूम्र लहरिया उठ रही थीं। द्वारके तोरण-झरोखोंपर शहनाई और नक्कारा बज रहा था। नीलमकी झूमरोंसे जगमगाते स्वर्ण मन्दिरमें गन्धर्वलोककी सगीत-धारा बहने लगी। नृत्य कर उठी देवदासियोंके चरण पातकी ताल-बद्ध झकार गूँज उठी।

कुमार जय-घोष, घटा-रव और शख-नादके बीच मन्दिरकी सीढिया चढने लगे। मखमलके पाँवड़ोंपर पद-धारण करते कुमार मान-दर्पभरी चालसे आगे बढ रहे थे, कि एकाएक वे ठिठक गये। उन समर्पण-मयी आँखोंने अपना वह बिछा हुआ सरलपन समेट लिया और उसमे सिमट आए कुमार भी। उस चम्पकवर्ण मुखपर पड़ते ही, उन उद्दण्ड राजसी भौहोंके नीचेकी आँख अपना पथ भूल गई। कुमार उस भोले छबि-वनमें जैसे खो गये।

दोनों हाथोंके कर-पुटपर केलेके पत्तेमे कलिया उठाए, वह खड़ी थी विनत-विनम्र, आँखें झुकाए!

"सरले! इन कलियोंका मोल?"

लज्जारक्त मुखपर वे बड़ी बड़ी उज्ज्वल आँख, राज-पुरुषके तेजोवलय प्रस्फुरित करते मुखकी ओर उठी और ढलक गई। अपनी कचुकीमें खोंसा हुआ एक काँटा निकालकर वह बाला उन कलियोंको बींधने लगी।

कुमार हँस पड़े उस मारल्यपर।

"सरले! उन्हें न बींधो, वे तो अन-बिधी ही देव-चरणोंमे चढ़ेंगी।"

'टच' कहके वह तो मुकर गई। इस गर्वभरे मुकरनेमे वह तो भगवानसे अपने देवताकी होड लगा बैठी। जैसे वह भगवानको ही नट गई। उफ, पगली निर्दोष वन-कन्यामे इतना साहस! वह राज पुरुषसे आज जिद कर बैठी। और राजकुमार ..? उनकी राजकीयता उस वन-कुसुमपर बिक गई। वे हँस रहे थे विमुग्ध, विमोहित, पराजित!

"नहीं कुमारिके ! उन कलियोंको न बींधो, वे अक्षत ही देव चरणोंमें चढ़ेंगी ।"

"ना, मेरी कलियोका मोल तो बिंधना ही है !"

राजकुमारने मुट्ठी-भर स्वर्ण-मुद्राएँ उसकी डलियामें डाल दीं । उसने झटकेके साथ, कौमार्यके एक निराले अवहेलाभरे गर्वसे वे स्वर्णमुद्राएँ डलिया से बाहर उछाल दीं ।

मर्माहत स्वरमें कुमारने पूछा—

"तो अनबिधी कलियाँ न दोगी, बाले ?"

"ना ।"

उस नन्हे मनमे जो राज सिंहासन बिछा है और जिसके आधे भागपर वह स्वयम् अपनेको अधिष्ठित किए है, अपने उसी जन्म-सिद्ध अधिकारका वह दावा कर उठी । और, लोक-दृष्टिके सम्मुख महाराजकुमारकी महान अवज्ञा हो गई ।

वह अवनत मुख अधिकाधिक आरक्त हुआ जा रहा था । और उसने देखते-देखते अपने काँटेसे वे पाँचों कलियाँ बीधकर डोरेमें पिरो दी ।

राजकुमारकी सम्मोहन-मूर्च्छित आँखें उन कलियाँ-पिरोती उँगलियोंसे उठी और उस फूट पड़ते आरक्त मुखपर जा ठहरी । लजवन्ती सी पलकें उघरी और बड़ी बड़ी भँवराली आँखोंने राजकुमारसे पहेली पूछी ।

...बिंधने-बँधनेके व्यापार उस मुहूर्त-क्षणमें सम्पन्न हो गये । राजकुमारने पॉच कलियोंका गजरा अपनी हथेलीपर झेला और मुट्ठी बन्द हो गई । भँवरा कमलकी कर्णिकामें बन्दी हो गया, और कमल मुँद गया. .

वह कुमारिका अँगुलियाँ गूँथे ज्योंकी त्यों खड़ी थी—मुकुलिता, मुदिता. .!

राजकुमार आगे बढ गये ।

× × ×

कुमारके मनके भीतर ही भीतर, दिन-रात एक चुभनमें वह पहेली कसक-कसक उठती—'मेरी कलियोंका मोल तो बिंधना ही है !' और, उसने

भल्ला कर वे स्वर्ण-मुद्राएँ फेंक दी थी, किस गर्वीली भंगिमासे। वह फूट पड़नेको आकुल लज्जारक्त मुख और चिबुकपर वे पसीनेकी बूँदें ! जाने कौन सा काँटा भीतर ही भीतर चुभकर कुमारको उस निर्दोष बन-कन्याके मनकी बात समझाता। कुमार समझकर भी अनसमझे रह जाते। एक रक्तधारा-सी वह बात मनही मन फूट निकलती है, और हृदयके आँगनमें कौन-सी अज्ञाता अँगुली कुकुमसे स्वस्तिक रच जाती है...?

और, कुमारके कानोंतक यह बात भी पहुँची कि वह रेणु, अन्य नागरिकोंको तो साधारण रौप्य-मुद्राओंपर रोज ही कलियाँ बेचा करती है। यह बिंधनेका मोल तो कुमारके लिये ही था।

कुमार उस निर्दोषिताके सम्मोहनकी योग निद्रामें सो गये और जागे कौमार्यके उस हिमोज्ज्वल स्वप्न-देशमें, जहाँ चाँदनी और प्रभातकी रश्मियाँ कुमारिकाका आँचल बुना करती हैं, और तारोंकी जालियोंसे उसकी चोली गूँथी जाती है। ऋजुता, मार्दव, आर्जव और प्रणय वहाँ शिशुरूप धारण किये बादलोंकी सेजोंपर सोये हैं ।

कुमारके दर्शन झरोखेकी वस्तु हो गई। दिनमें ही मणि-दीपोंके प्रकाश में महानील मणिके तल्पपर बिछी एक सीतल पाटीपर लेटे रहते। एक हल्की-सी चाँदनी वे ओढे रहते। मसहरीसे गन्ध जलके फुँहार बरसा करते। अवसर पाकर सेवक थोड़ी-थोड़ी देरमें चाँदनी बदल देता। तनपरसे खिर-खिरकर अँगराग चारों ओर बिखर गया था, कई दिनोंसे स्नान प्रसाधन तक नहीं हुआ था। मौलश्री और पारिजातकके गजरे मर्दित-मलिन, अवहेलितसे देहके नीचे बिखरे पड़े थे। भोजनके समय नाना व्यजनोंसे भरे थाल आते और योंही लौटा दिये जाते। कुमार दृष्टि तक उठाकर उधर न देखते। मदिराकी झारियाँ और पान-पात्र इधर-उधर लुढक रहे थे। सारे कक्षकी सिंगार-सज्जा अस्त-व्यस्त, ध्वस्त और परित्यक्त होकर पड़ी थी।

. पर कभी किसीने देखा हो तो पूनोंकी चम्पकवर्णी सन्ध्यामें अनायास कुमार उस नीलमोद्भासित झरोखेपर उदय होते और उपवनकी वनानीपर उदय होते पीले चाँदको एकटक निहारा करते। सितारके अन्तरमें सोई कम-

नीय–करुण रागिनियाँ उठकर, उस सोनजुही-सी पीली चाँदनीमें लहरें उठाने लगतीं। और उन अर्ध-निमीलित, तन्मय आँखोंकी रोओंमें हीरक-कणिकासी एक बूँद चमक उठती—और उसमें 'टच' से नटकर कौन मुस्कराकर मुँह फेर लेता?

प्रमद-वनमें केलिके आयोजन व्यर्थ हो जाते, क्रीड़ा-गृहमें चौसर और पंसासार योंही बिछी रह जाती। सबेरे आखेटपर जानेके लिए सजाये गये घोड़े साँझको योंही खाली कर लिये जाते।

चित्रकारोंने करुण साँझोंमें पीताभ पूर्ण चन्द्र-से उदय होते कुमारकी मलिन मुख-श्रीको अनेक कल्पनाओंमें अंकित किया। कुमारकी मनो-व्यथाको लक्ष्यकर ऋतुओं और रागिनियोंके भी अनेक चित्र बनाए। संगीतकारोंने नई-नई रागिणियाँ रचीं। और कवियोंने कुमारके मनकी बातको मर्मकी चादर ओढ़ाकर केशर-वनमें सुला दिया। ज्योतिषियोंने ग्रह-तारोंका गणित लगाया।

कुमार कथाकी वस्तु हो गये!

पर मनकी बात वे किसीसे कहें तब तो मालूम हो। द्वीप-द्वीपकी सुन्दरियाँ बुलाई गईं, पर कुमार झरोखे पर न आए।

× × ×

चाँदनी-धौत स्फटिक-शिलाओंकी छतपर, पूर्णिमाकी निशीथमें गन्ध-परागसे झरती चाँदनी फैली है। पन्नेके पलंगके एक सिरेपर, स्वप्न-तरल, काँपते मोती-सी वह वन–कन्या, लज्जा-विनम्र, सिमटी-सी बैठी है। वही शिरीषके कर्ण-फूल और मृणालके भुज-बँध उसने धारण किये हैं। पूर्णोद्भिन्न वक्ष देशपर लाल फूलोंकी माला झूल रही है। यहाँ-वहाँ पहना दिए गये हलके परोंसे सूक्ष्म मणियोंके आभूषण, चाँदनीकी जालीसे ढकी तारा-छिटकी रातसे उस देहमें सोह रहे थे। एक हलका नीलाभ-वसन वह ओढ़े थी। नहीं तो उसकी लाज ही मानो उसे ढँक रही थी।

कुमारने मुस्कराकर उसे अपनी ओर खींचा और वह माथा वक्षसे लगा लिया। वह विरह–तापोज्ज्वल पीत मुख, चाँदकी चारु गोराईको चुनौती

देने लगा। कुमार उस तप पूत श्रीपर अनन्त उल्लासमय आँसू-सागरके ज्वार को थामे, न्यौछावर हो गये।

उस वक्ष-लुण्ठित मुखको अपनी ओर फिरा, चिबुक उठाकर, भर आते कण्ठसे पूछा—

"सरले, वह पहेली बुझादो न?—'इन कलियोंका मोल तो बिंधना ही है' —किससे सीखी थी तुमने वह बात?"

कोई विशेष क्षण तो उसे याद नहीं आता, जब उसने यह बात किसीसे सीखी हो। उसे तो उसका मन ही यह बात बहुत दिनोंसे कहने लगा था।... पर याद आ रहा है इस क्षण अनायास वह गुलाबका वन, जिसमें बैठ वह शरदके उजले प्रभातोंमें माला गूँथा करती। फूल चुनते-चुनते कई बार उसकी अँगुलियोंमें काँटे बिंध जाते। रक्त चूने लगता—और हृदयके मर्ममें जाने कौन सा काँटा कसक उठता...।

और उस दिन लग्न-क्षण आया तो अनायास मनकी वह मर्म-वार्ता अन-जाने ही वह प्रकट कर गई...पर हाय किसके सम्मुख ?

कुमारका प्रश्न सुनकर रेणुकी आँखें मुँद गईं थीं। गुथे पलक-रोओंमें वह स्वप्न तैरकर गीला हो आया था !... गुलाबके वनके पास, शरदके उज्ज्वल प्रभातमें बैठी वह माला गूँथ रही है—कलियोंको बींध-बींधकर।... और उन दिनोंके अक्षत, मुकुल हृदयकी आकुलता उसे याद हो आई।... और आज ? आज तो वह स्वयम् ही बिंधकर उस राज-पुरुषके वक्षपर पड़ी है...

कुमारने प्रश्न दुहराया—

"प्राण! आज बुझा दो न वह पहेली?"

और वह तरल मोती उन गुलाब-वनोंका स्वप्न लेकर गालोंपर ढुलक आया। पन्नेके पर्यंकमें प्रतिबिम्बित होती हरित-शीतल चन्द्र-किरणोंमें वह आँसू चमक उठा।

कुमारके पास यदि हृदयकी आँखें हैं तो देख लें उस बूँदमें वह झाँकी और बुझा लें अपनी पहेली! पर रेणु...?

वह तो आज बिंधकर उस रुँधे-मुँदे हृदयको लौटा लानेके लिए फिरसे व्याकुल हो उठी थी। कौन जाने, कुमार उस बूँदमे अपनी पहेली बुझा सके या नहीं ?

१२

कहाँसे आरम्भ करें ?

..उसकी जेबमें जो वह पीले कागज़की पुड़िया है, उसमें क्या बँधा है ? वह कुछ जेबमें लिये जा रहा है। ..पर उसे नहीं मालूम है। वह साइकिल तेज़ कर रहा है, मानों वह बचकर भागना चाहता है, जान बचाना चाहता है—वह मुक्त होना चाहता है। पर वह जेबमें क्या है.. ? उसमें साहस नहीं है कि उस पुड़ियाको खोलकर वह देखे। वह साँप है, बिच्छू है ? न जाने क्या है ? क्या वह पाप है—अतल, अरूप, काला, निराकार ? कुछ है जो उसे काट रहा है—भीतर ही भीतर डक मार रहा है। वह बहुत भयभीत, विरक्त, वितृष्ण-कातर है। उसका आत्मा ग्लानिसे अवरुद्ध हो गया है ! उसकी गति ह्रस्व हो गई है। वह भागा हुआ है, अपराधी है—क्या चोर है वह ? वह अपनेको अपने से ही छुपा रहा है। अपने आप ही में वह चौकन्ना है। अपने सामने आनेका साहस उसमें नहीं है। कानूनके शिकजेमें वह नहीं आ सकता। सरकारका न्यायाधीश उसे रिहा कर सकता है—पर वह तो अपना ही अपराधी है—अपना ही अभियुक्त है। वह किसी पुलिसके भयसे नहीं काँप रहा है—वह अपनी ही कायरता, अपनी ही दुर्बलतासे भयभीत है।

कुछ बचाव भी उसने अपने विवेकके इलज़ामोंके ख़िलाफ पेश किये।... वह बाज़ारसे आ रहा है। बाज़ारमें दान-प्रतिदान नहीं होता—वहाँ आत्मदान

नहीं होता। वहाँ निष्प्रयोजन परोपकार या परमार्थ नहीं होता । जहाँ सभी स्वार्थ लेकर आते हैं, जहाँ गिने हुए अंकोंमें—सिक्कोंमें—खरीद बिक्री होती है, वहाँ सारी चीजोंके मूल्यका माप एक ही है—अर्थ ! बाज़ारमे मनुष्यताका कोई सिक्का नहीं चलता—वहाँ चाँदीका, सोनेका,—धातूका सिक्का चलता है । फिर बाजारमें क्यों कोई उससे कोई चीज मुफ्त लेता। उसने जिस चीजको किसीका कल्याण समझकर दान किया है—उसके बदलेमे सामनेवालेके पास मनुष्यता पर्याप्त मात्रामे देनेको नहीं थी—सो उसने चुका दिया है दामोंमें । ...वह एक गोल-गोल, कागज़में कुछ चमकीला, सफेद, सख्त-धातुका टुकड़ा। नहीं-नहीं ..वह कुछ है .साँपकी तरह भीतर ही भीतर लहरा-सा उठता है—वह बहुत बोझिल है !

क्या खाम-ख्याली है—क्या खूब फिजूलियत है...। नहीं वह एक आइडिया है, भ्रम है, सेन्टीमेंटल फेन्सी ! भूत ! वह वास्तवसे बचाव है—ठोससे दूर भागना है । उसके पास कुछ था, उसके बासका, उसके कब्ज़े-काबू और अधिकारका कुछ था जो उसने बेचा है । पर जगतमे अधिकार का कौनसा केन्द्रीय, निर्णायक न्याय-विधान है ? उसकी क्या कसौटी है ? किसने किसको अधिकार दिया है, जो न्याय-सगत कहा जा सके ।...पर दुनियाका कारबार फ़िलॉसफीसे नही चलता । दुनियाकी क्रिया, प्रति-क्रियाओं-से फिलॉसफ़ी बनती है । ..अस्तित्व-सघर्षकी लीला-भूमि है यह जगत । यहाँ शक्ति ही अधिकारकी निर्णायक है । तब लोकनाथके बसमें जो था, उसकी शक्तिके वृत्तमें जो था, उसपर उसका अधिकार था और वही उसने बेचा ।

...तब इस राज मार्ग, इसपर चल रहे आदमी—यानी इस पब्लिकसे हटकर, एक ऊबड़-खाबड़ रास्तेसे इस एकान्त सरायमें वह चला आया । यहाँ अक्सर अवारा-जिप्सी, फकीर, परदेशी सौदागर, लुच्चे-लफगे, रण्डिया और लावारिस फाहशा औरतें आकर ठहर जाया करती हैं । आज वहाँ निर्जन सुन-सान था । वहीं बराण्डेपर चढ़कर, एक पत्थरके खम्भेसे सटकर वह बैठ गया । फिर उसने एक बार चौकन्ने होकर जैसे अपने ही से आँख बचाना चाही । छुपकर कुछ अन्दरसे चुराना चाहा । जेबमें वह जो कुछ है...उसे पानेको

उसे जाननेको वह आतुर था। मनपर बँध गई ख़्याली बेड़ियोंकी शृङ्खलाओंको वह तोड़ देना चाहता था। वह अपने मनका वह बेबुनियाद, भावुक भ्रम दूर कर देना चाहता था। उसका हाथ जैसे किसी दूसरे ही बाह्य शक्ति-यन्त्रकी इच्छासे सचालित था। उस हाथकी प्रवृत्ति क्षणभरको ...उसकी दृष्टिसे परे, ज्ञान-चेतनासे परे चल रही थी। तब मांसके उस हाथने पाया कि कागज़में कुछ गोल-गोल, सख्त, ठोस!...कुछ अगम, अतल अन्धकार, साँप, पाप अपराध...?—कुछ नहीं—एक रुपया है। यह एक रुपया उसकी शक्ति, अधिकार और कौशलका परिणाम है!

...पर यह तो उस पर फेका गया है...उसकी हथेलीमें—उसकी जेबमें ठूँस दिया गया है। उसे कब था उस रुपयेका लालच। वह जो कुछ उसने जानकर उस व्यक्तिको बतला दिया, उसमें उसके साथ भलाई, उपकार करनेके अतिरिक्त और कोई प्रेरणा नहीं थी। पर उन दो लाल पगड़ीवाले बनियोंने नहीं माना। उन्होंने कहा—वह प्रेम है!—वह भेंट है! उनकी इच्छा है—उनका आग्रह है कि वह उनके प्रेमके इस चिन्हको न ठुकराये। इसीलिये क्या वह बेबस हो गया—कि वह रुपया वह लौटा न सका? सेक्रेटेरियटके वरण्डेमे वह अपनी साइकिल ले रहा था। चपरासी इधर-उधर दौड़-धूप कर रहे थे। अफसर, सेक्रेटरी, क्लर्कोंके घर जानेका समय था। छुट्टी हो गई थी। सब वहाँसे गुज़र रहे थे। लोकनाथकी ज़बान तालूसे चिपक गई। उसने दबी ज़बानसे, इशारोंमें उन बनियोसे बहुत कुछ कहा कि...नहीं, नहीं—उसे ज़रूरत नहीं है, वे लेलें, वे लौटा ले। . यह न जाने क्या, कुछ पुड़िया है, जो उन्होंने दे दी है। वह फेक देगा—वह मिट्टी है, धूल है उसके लिये। वह उसे सड़कमें, आम रास्ते पर फेंक देगा। पर यहाँ, सेक्रेटेरियटके बरामदेमें वह कैसे फेंकता?—क्या कह कर लौटाता? लोग गुज़र रहे थे—वहाँ वह कैसे ज़िद करता? कोई उससे पूछ बैठे कि किस बातका लेन-देन है, क्या है, क्यों यह भाव ताव है—तब? फिर कुछ है, जो अनधिकृत है, जिसे उसने बेचा है—चुरा कर बेचा है। वह अपनी सरकारका, अपनी सेक्रेटेरियटका—जिसका कि वह नौकर हैं, अपराधी है। यदि नहीं है तो क्यों क्यों

उसे भय हुआ। क्यों थी झिझक, कि वह रुपया उस बरामदेमें लौटानेका साहस उसे न हुआ ?

लोकनाथने फिर सोचा—वह गलत चक्कर है। क्या सरकार, क्या उसकी सेक्रेटेरियट और उसका न्यायालय, सभी तो बाजार हैं, दूकानदार हैं—सौदागर हैं। सरकार और उसकी सत्ताकी नीवमें ही असत्य है,—अनीति, अन्याय, शोषण और बलात्कारकी कुर्सीपर ही यह शासनकी इमारत खड़ी है। फिर लोकनाथ ही क्यों अपनी ओरसे, उस सरकारके कार-बारमें नीति-अनीतिके भेदका आरोप करे ? उस सरकारका कार्य-विधान सारे छल-छन्दोंके साथ जैसा भी चल रहा है, ठीक उसी नीतिको यदि वह सरकारके साथ बरतता है—तो वही क्यों विशिष्ट रूपसे अपराधी या जिम्मेवार होगा ?

पर चैनकी कड़ीकी तरह आत्म-समर्पण कर क्या लोकनाथको सन्तोष हो सकेगा ? 'षडयत्र' केसमें वह अभियुक्त था—बड़ा सगीन मुक़दमा उसपर चला था। घर फूँककर वह गाँधीके सत्याग्रहमें कूद पड़ा था और तीन बरस तक जेलके सी क्लासमें पडे रह कर जो अमानुषी यातनाएँ उसने सही हैं, वह देशके बड़ेसे बड़े नेताकी कल्पनामें भी नहीं आ सकती ! जीवनमें लगी हुई वह आग बुझ गई हो, सो बात नहीं है, पर हाँ सेक्रेटेरियटकी नौकरीकी यह भ्रामक राख उसपर जरूर पड़ी हुई है। यह सच है कि लोकनाथके जीवनमें अपने लिये जीनेका अब कोई कारण नहीं रह गया है, पर वह किसके लिये जी रहा है—इस प्रश्नका उत्तर देनेके दम्भसे भी अब उसे नफ़रत हो गई है। सेक्रेटेरियटकी नौकरी तब वह क्यों कर रहा है—इस बातकी कैफियत अब उसके जीवनके सम्मुख बहुत नगण्य हो पड़ी है। वह स्वयम् शायद निश्चित रूपसे नही जानता कि वह किसके लिये जी रहा है, पर उसके भीतर यह प्रतीति दिन और रात जागरूक है कि वह जिसके लिये जी रहा है—वह इन सारी नेतागीरियों, राजनीतियों, क्रान्तियों, सत्ताओं, देश, देश-भक्ति, काँग्रेस या और किसी भी पार्टीसे बड़ी चीज़ है। एक लम्बी कशमकशके बाद इन सारे वर्तुलोंको तोड़ कर वह

अपनी इकाई पर आ टिका है। और तभी अपने भीतर उसे अपने आदर्श की यह लौ एकाएक मिल गई है।

..अब लोकनाथको अपने बारेमें कोई भ्रम नहीं रह गया है। उसने अपनेको एक निहायत मामूली आदमी बना डाला है। सघर्षके क्षुद्रतर स्तरोंसे गुजर कर वह अपनेको जाँचना-परखना चाहता है। सारी मानव-सुलभ दुर्बलताओंके प्रति वह अपनेको खुला छोड़कर चल रहा है। हर दुर्बलताको अवसर है कि वह आये और उसपर अपना पंजा बैठाये। आदर्शका कोई घिराव या बन्धन भी अपने आस-पास लेकर वह नहीं चलता। हाँ, उसके भीतर जो यह लौ है, उसके उजालेसे बच कर उसके जीवनमें कुछ भी नहीं गुजर सकता।

. भीतरकी रोशनीके उस निज द्वार पर आकर लोकनाथ ठिठक गया। . आज वास्तवके प्रति वह कैसा दुर्बल विद्रोह कर बैठा! सरकारसे—लोक-जीवनसे क्या हम प्रति-शोध ले सकेंगे? उन्हींकी नीति स्वीकार कर क्या हम उनमें क्रान्ति कर सकेंगे? नहीं—वह क्रान्ति योजना बेबुनियाद है, विफल है, वह विवेक-सगत नहीं है। वह अपरिणामदर्शी, अदूरदर्शी है, वह जड़त्व से टक्कर लेकर अपनाही सिर फोड़ लेनेके समान है, वह अस्वस्थ प्रतिक्रियासे उपजी हुई क्षणिक उत्तेजना है—आवेश है...!

लोकनाथने उस रुपयेको एकाएक पत्थरपर बजाया। वह ठप होकर रह गया। उसमें गूँज नहीं थी—वह ठस बोल रहा था। ..ऐं, खोटा रुपया...? उसने गौरसे उसकी छाप देखी। छाप मोटी है, भद्दी है, वह यकसा और प्रामाणिक नहीं जान पड़ती। लोकनाथने देखा—आदमीके ऊपर होकर धातुने अपनी जात कहदी है। वह कथीर है—गिल्ट है— वह स्वयं बोल रहा है, और अपने वह होनेपर उसे लज्जा नहीं है। लज्जा हो तो आदमी को हो—इसीसे तो वह बढ़ियासे बढ़िया, नईसे नई तर्ज़की पोशाकों में अपनेको ढाँके-सँवारे घूम रहा है.

...लोकनाथको लगा जैसे पीछेसे आकर किसीने पार्श्वसे उसकी छातीमें छुरा भोंक दिया है। मानों वह अपनी राह अपनी धुनमें चला जारहा था,

कि कहींसे दौड़ते हुए एक साँड़ने आकर उसकी पसलीमें जोरका सींग मारा हो ।...क्षणभरको वह पथरा गया और यों वह आघात उस अवरोधसे टकराकर कुण्ठित होनेके बजाय और भी पैना होकर भीतर धँसता ही आया। भूकम्पकी एक हिलोरकी तरह, सत्यानाशकी एक कुटिल नागिन सरसे पैर तक उसमें लहरा गई । उसके रोंगटे खड़े हो गये ।...उन लाल पगडीवाले बनियों की वह हँसी वह आग्रह, वह अनुरोध, वह कला-प्रवञ्चना...! उसे लगा जैसे उसकी आत्माके भीतर झाँककर एक दानवाकार अर्थ-भूत, नगा होकर क्रूर व्यंगका अट्टहास कर उठा ।

लोकनाथकी सारी वेदना, सारी उत्तेजना और विद्रोह, गम्भीर तरंगायित आँसुओंका सवेग बनकर उसके प्राणको मथने लगा । वे आँसू गालपर नहीं आये । उनमेंसे एक सर्वान्तर-वेधिनी आग, एक शक्ति, एक विद्युत् रह-रह कर लहराने लगी—ससरित होने लगी—मानो समूचे विश्व-ब्रह्माण्डमें व्याप जायेगी, आरपार हो जायेगी ।

१३

प्यार कि संहार ?

गलीके भीतर, यह एक चाल है। राजाबहादुर सेठ मोतीचन्द राजस्थानके कोट्याधीशोंमें शिरोमणि हैं। दान-वीर, धर्म-वीर आदि अनेक उपाधियोंसे वे विभूषित हैं। नगरमें कोई एक दरजनसे अधिक पारमार्थिक संस्थाओंपर उनके नामकी कीर्ति-ध्वजा उड़ रही है। उन्हीं पारमार्थिक संस्थाओंके ध्रुव-फण्डसे ऐसी अनेक सस्ती चालें नगरके ग़रीब-मोहल्लोंमें बना दी गई हैं, ताके उनके किरायेकी आमदसे ध्रुव-फण्डमें सतत वृद्धि होती रहे और इस तरह दान-पुण्यका यह सिल सिला बराबर बरकरार रहे। ऐसी ही कई चालोंमें की एक चाल यह, इस गलीके भीतर भी है।

गलीके इस सिरेपर लुहारका घर है, जहाँ दिन-रात लोहेकी भट्टी चलती रहती है। पसीनेमें भीगी लुहारिने, आधा-सा घूँघट काढ़े, गले तकका घेरदार लाल लहँगा पहने, पानोंसे ओंठ सियाह किये धमनी चलाया करती हैं। मध्य रातका एक पहर छोड़ कर, सब घंटे वहाँ लोहा गलने, ढलने और घनोंकी चोटोंसे गढे जानेका व्यापार लगातार चलता रहता है। सामने एक लम्बे-चौड़े टिन-शेडमें आटेकी चक्की है, जहाँ पिसाईकी घर्र-घर्र रातके आठ बजे तक बमुश्किल रुक पाती है। आस-पासके ग़रीब मोहल्लोंकी यही एक केन्द्रीय चक्की है, इसीसे बन्द होनेके समय तक भी पिसानेवाले स्त्री-पुरुषों

(खासकर स्त्रियोंकी) की अटूट भीड़ वहाँ लगी रहती है। भद्र वर्गके पार्कों और दीवान-खानोंमें चलनेवाले रोमास, यहाँ जीवन-संघर्षकी धक्कम-धुक्कीमें होकर भी अपने लिये अवसर निकाल ही लेते हैं। पार्कों और दीवान-खानोंकी बेइख्तियार भूखका सुनहरी पंजा भी कभी कभी एकाएक धीरेसे वहाँ उतर आता है...और किसी आधीरात कोई मोटर गुर्राती हुई उस गलीके आर-पार हो जाती है।..नगरमें किसीसे भी आप पूछ देखिये, फ़ेवर-बनाकी चक्की, महलोंसे झोपड़ियों तक यकसा मशहूर है।

आगे चल कर गली जहाँसे मुड़ती है, वहाँ खपरैलोंसे छाये तंग, सीलदार, चार-पाँच घरोंकी एक कतार है, जिनमे चमार रहते हैं। दो एक घिसट कर लाये हुए जानवरोंके शव उन घरोंके सामने कभी-कभी पड़े दिखाई पड़ते हैं। हड्डी, चमड़ा और सड़े मासमेंसे जीवनकी आजीविका पानेवाले वे मनुष्य प्राणी मरणके उस मालिन्य, कुरूपता और भीषणतामें भी जीवनकी जोतको समभावसे सजोये हुए हैं। इन घरोंके आगे धूलकी परतोंसे छायी, भाग्यकी क्रूर भ्रूलेखा-सी एक लम्बी दीवार बहुत दूर तक चली गई है। बरसों पुरानी यह पक्की दीवार अब टूट फूट चली है, और जगह-जगह उसमें भक्काले पड़ गये हैं। उस दीवारसे घिरे उस विशाल नोहरेमें पुराने दिनोंका एक उतारा है, जहाँ टूटे-फूटे गाड़ी ताँगों और लोह-लक्कड़के ढेर पड़े हुए हैं, तो कहीं-कहीं दो-चार गिरे हुए मकानोंके खण्डहर भी दिखाई पड़ते हैं। आज-कल भी हाट-बजारके दिन आस पासके गाँवोंसे आनेवाले लोगोंके खुले हुए गाड़ी बैल, टट्टू और ऊँट वहाँ दिखाई पड़ते हैं। इस विस्तृत नोहरेकी परली दीवारके उस पार नगरके कोट्याधीशों और लक्षाधीशोंका वह नामी मोहल्ला है—जौहरी बाजार। वहाँ वे भव्य गोखड़ो और अटारियो वाली आकाश-भेदी हवेलियाँ खड़ी हैं, जो आस-पासकी बस्तीके छोटे-मोटे मकानोको अपनी मानभरी नजरोंसे तुच्छ करती हुई, दूर पर खड़े मिलोंके भोंगोंकी ऊँचाईसे होड़ ले रही हैं। इस मोहल्लेकी सारी गटरोंका केन्द्रीकरण पिछवाडेकी इस गलीमें आकर ही होता है। उन गटरोंके

यहाँ तक आते आते म्युनिसिपेलिटीके स्वच्छता-विभागकी बाधा भी ऐसी विशेष नहीं रह गई है। सारी गन्दगी यहाँ मुक्त है और सारे पाप यहाँ निर्बाध। दिन और रातका भेद यहाँ गौण हो गया है।

इसी केन्द्रीय गटरके ऊपर दानवीर राजा मोतीचन्दके परमार्थ खातेकी यह लम्बी चाल बनी हुई है। चालके इस सिरे पर दूसरे मंजिलमें यह जो गमलों-वाली खिडकी है, इसमें रोज रोज चोली लुगड़ा बदल कर पान चबाती हुई एक स्त्री बैठी दिखाई पडती है। कभी-कभी अपने सारे शरीरमें वह हल्दी मल लेती है—और अपनी पीली भरी बाहोंपर इमिटेशन सोनेके गोखरू और मोतीकी चूड़ियाँ पहन लेती है। कुल कन्याओंको शायद जीवनमें एक ही बार, अपने परिणय के समय जब दुलहिन बनती है, तभी हल्दी चढाई जाती है। पर यह लड़की है कि जब उमग आ जाती है तभी हल्दी चढाकर—नित-नवीन दुलहिन बनी इस खिडकीपर बैठी रहती है। यह सदा क्वाँरीहै—कि सदा दुलहिन है? यह प्रश्न मेरे मनमे रह-रहकर कसक उठता है।

चम्पई रगके भरेसे चेहरेपर बड़ी सी बिंदिया, उसपर झूलता हुआ मोतियोंका मारवाड़ी बोर, आखोमे खूब गहरा गहरा काजल और ओठोंपर पानोंकी स्याह रेखा। रुपहले तारोंसे टँकी काली चोली ही वह अक्सर पहना करती है। वह चोट-भरी चितवन जब उठती है तो कितने ही सीना तानकर चलने वाले गर्वीले पुरुषार्थ वहाँ घायल होकर धरतीपर लोट जाते हैं। कितनी ही जवान छातियाँ उन बरौनियोंकी कजरारी कोरोंसे बिंधकर क्रूसीफिक्शनके स्वार्पणका आनन्द पा जाती हैं। उस गोल सुडौल लम्बी बाहँको मोड़कर, कोहनी घुटनेपर टिकाये, हथेलीमें गाल धरकर जब वह बैठ जाती है, तो उस कोहनीके तोड़में सारे विश्वका सम्मोहन सिमट आता है। कभी-कभी नहानेके बाद अपने विपुल भँवराले केश-भारको उभारकर जब वह खिड़कीपर खड़ी हो जाती है तो अन्धकारकी एक अन्तरहीन मोह रात्रि जैसे सृष्टिपर उतर आती है। पर मैंने देखा है, उन आँखोंकी पुतलियोंमें एक सरलपन, एक आत्म-निवेदन रह-रहकर झाँक उठता है, मानों काले जहरके प्यालेमें

एक उजला मोती एकाएक तैर आया हो। तब मुझे लगता है कि अँधेरे की बेशुमार तहोंके भीतर कहीं कोई जोत जल उठी है।

ऊपरकी अन्य कोठरियोंमें ज़्यादतर मारवाड़ी हम्मालोंकी बस्ती है। नीचेकी कोठरियोंमेंसे किसीमें कोई नाई रहता है, तो कहीं एक बूढ़ा दर्जी। दो-तीन कोठरियोंमें पहलवानोंने अड्डा जमा रक्खा है, वहासे गुज़रते हुए जब-तब उन पहलवानोंको मालिश करके जाँघ ठपकारते हुए या फिर भाँग-बूटी छानते हुए देखा जा सकता है। कुछ कोठरियोंमें खोमचेवाले रहते हैं। कहीं एक बूढ़ा चपरासी रहता है, तो किसी एक कोठरीमें दो-चार पुलिसके जवान रहते हैं जो अपनी वर्दीके रौबसे सारे मोहल्लेको आतंकित किये रहते हैं। एक कोठरीमें दो-चार पुरबिये मजूर रहते हैं—जो रातको शराब पीकर, चिमनीकी बडीसी धूँआली जोतके उजालेमें, ढोलक और खँजडी बजा-बजाकर गाया करते हैं। कहीं जुगारी अड्डा जमा रहता है, रोज नई-नई सूरतोंके आदमी वहाँ दिखाई पड़ते हैं, खासी चीख-चिल्लाहट मची रहती है, बातकी बातमें वहा लाठियाँ तन जाती हैं और अक्सर औकात सिर फूटते भी वहाँ देखे गये हैं। एक कोठरी पर प्राय ताला पडा रहता है, कभी-कभी देर रात गये कोई स्त्री चुप-चाप वहाँ आती है और दिया जलाकर कोठरीका किंवाड बन्द कर लेती है। गुजरते हुए राहगीरको कभी अचानक दरवाज़ेमेंसे एक चारपाई दिखाई पड जाती है, जिसपर एक भारीसा गद्दा और दो तकिये पड़े रहते हैं। रातके सन्नाटेमें भारीभरकम पगड़ीवाले एक साहुकार दबे पैरों वहा आकर साँकल खड़खड़ाता देते हैं, किवाड़ खुल जाता है, महाजन दाखिल हो जाते हैं और फिर दरवाज़ा धीरेसे बन्द होकर कुण्डी खडक जाती है। सवेरे दिन निकलनेपर कोठरीका ताला वैसा ही बन्द पाया जाता है, जैसे कहीं कुछ हुआ ही नहीं है।

गार्हस्थ्य वहाँ नही है। छड़े बिछुड़े, गुण्डे आवारा, उपेक्षित, बेरोजगार, चिडियाबाज़, चण्डूबाज़, भंगेडी गजेड़ी, शराबी, उठाईगीरे, मवाली सभीका मेला वहाँ जुड़ा है। आत्मीय, कुटुम्ब, समाज जिनके नही है, सड़ककी दलित धूलमेंसे जन्म पानेका अपराध जिन्होंने किया है—वे सब जीवनकी इस रंग-बिरंगी महेफ़िलमें आ जुटे हैं। एक अजीब बेबसी और निष्ठुर

बेदरकारीकी दुनियाँ वे बसाये हुए हैं। बाहर-बाहरके इस बेसुरेपनके होते भी पापके उन सब मुक्त छिद्रोंसे जीवनके आत्म-निवेदनका एक बड़ा ही पवित्र और वेधक सगीत वहाँ प्रवाहित होता रहता है। अपने-अपने रौरवमें बन्द, लाचार, एक दूसरेकी छातीपर पैर देकर वे चले-चल रहे हैं। जीवनके उस अन्ध नरकमें जाने-बेजाने वे धक्के खाते हैं, टकराते हैं, घुटी हुई इच्छा-वासनाओंका धूँआ माथेमें चढकर चक्कर देता है--उनकी आँखोंमें लड़नेका एक नशा-सा घिर आता है। गलीके मोड़ पर निष्प्रयोजन लड़नेवाले साँडोंकी तरह वे भिड़ियाँ लड़ाने लग जाते हैं।...इस भिड़न्तमें कभी किसी मर्मके स्थलपर वे रगड़ खाजाते हैं, तो वहाँसे एक चिनगारीसी फूट निकलती है। भीतरके दिये जल उठते हैं, उनके उजालेमें वे एक दूसरेको पहचान लेते हैं। वे जी उठते हैं। कोई जन्म-जन्मका विस्मृत आत्मीय भाव अनायास जाग उठता है। वे एक दूसरेके लिये प्राण देनेको उतावले हो उठते हैं।...तभी कहींसे फिर कशम-कशका एक करारा धक्का आकर लगता है—और वे भीतरके दिये आग लगा देते हैं। यह विपरीत आयोजन, यह विषमता, यह अकल्याण क्यो? कहाँ है इसकी जड़? कौन है इस ट्रेजेडीका सूत्र-धार?

. .और चालके उस ओरकी उस ठीक आखरी कोठरीका दरवाज़ा कभी बन्द नहीं देखा गया। उस घरका निवासी, वह कोई मनुष्याकृति, सदा अपने द्वारकी देहलीमें, अरह-निश अपने ऊपर और जगतपर पहरा लगाये बैठा रहता है। असंख्य झुर्रियोंवाली, रक्तहीन, सूखी त्वचामें बँधा एक हड्डियोका ठट्ठर भर वह रह गया है। आकार मात्रकी उस मनुष्यताके द्वारपर जीवन और मरणकी एक अन्तहीन टक्कर जैसे चल रही है—कि वह पिंजर अभी भी साँस ले रहा है। उसका विकराल, डरावना मुह सदा फटा रहता है—और बड़े-बड़े बाहरकी ओर निकल आये दाँतोंके बीचसे उसकी ज़बान लप-लपाती रहती है और लार टपकती रहती है। उसकी सारी देह खाज-खुजली, फोड़े-फुन्सीसे सड़ रही हे। स्थान-स्थान पर रक्त और पीप बहते दिखाई पड़ते हैं। असख्य मक्खियाँ उसके आस-पास भिन-भिनाती

हती हैं। आँखोंकी धँसी कोटरोंमेंसे तिल मिलाता हुआमा बन्दी चेतन
से रह-रहकर विद्रोह कर उठता है। गीजड़भरे कोनोसे ढुलककर पानीकी
दें उन धँसे हुए गालोंकी कन्दरामें जा छुपती हैं। काठसे उठे हुए घुटनों
र कुहनियाँ टिकाये वह विकृत, विद्रूप, कराल मुखाकृति—अनिमेष फटी आँखोंसे
ल ताकती रहती है। देखने वालेको लगता है जैसे उन आँखोंके पलक कभी
गेरते ही नहीं है। उनके पथराये काँचोंमे मानो जीवन्त भय, ग्लानि, घृणा
और तिरस्कारकी मूर्तियाँ कोरदी गई हैं। कुछ ऐसा लगता है कि मानों उस
यंत्रणाका कोई आदि अन्त ही नहीं है, कोई अगली-पिछली कहानी भी नहीं
है। वह तो नग्न यंत्रणा है—जीवनके गुलाबी सपनोंका ज्वलन्त, रौद्र उपहास।
ज़रा गहरी नज़रसे देखिये तो पायेंगे जैसे उन कबरके चिरागों सी पुतलियोंमें
भट्टियाँ दहक रही हैं—प्रलय सम्हला हुआ हैं। धर्म शास्त्रोंकी नरककी
कल्पना एकाएक साकार होतीसी दिखाई पड़ती है।

अक़सर वहाँसे गुज़रनेवाले राहगीर उसकी दृष्टि और छायासे बचकर
निकलते हैं। किसी भद्र-जनकी निगाह पड जाती है तो घृणा, दया और त्रास
से उसका मुंह विकृत हो जाता है। अक्सर यहभी डर लोगोको रहता है कि उसकी
रक्त-पीपसे भरती हुई देहकी कोई मक्खी उड़कर उनके शरीर पर न बैठ जाये,
नहीं तो वे सारे रोग उन्हें आ चिपटेंगे। कोई धर्मिष्ट, दयालु साहुकार
कारण-वश उस राह निकल आये, तो देख कर थूक देंगे और चट निगाह फेर
कर मुंह बगलके डुपट्टेसे ढाँक लेंगे।

अपनी जिज्ञासाको मैं रोक न सका, सो एक दिन उसके पास जा पहुँचा।
पूछा कि उसकी यह हालत कबसे और क्यों है? उसका कौन है?—रोटी और
मकानका किराया कहाँसे आता है? दिया कौन जला जाता है?

उसने कहा था, ठंडे पत्थरसे कठोर और शान्त स्वरमें—कि उसे कुछ
नहीं मालूम। भगवान करता होगा। उसे किसीने ऐसा नहीं बनाया है—उसके
करमने बनाया है।

मैंने कहा—मूर्ख हो तुम।—तुम्हें आदमीने ऐसा बनाया है।

और अचानक वह निरभ्र वज्रपातकी तरह कड़-कड़ा कर खूब ज़ोरका
अट्टहास कर उठा। मानो कोई प्रेत किलकारी कर उठा हो। मैं सहमकर

देखता रह गया। वे आँखें बर्फीली, ठण्डी, मौतकी अतल गुफाओंसी भयावनी हो उठी। और उसके ओंठ हँसीसे फटे रह गये थे। मैं थर्रा उठा। मानों वह मुझे खा जायगा। और मुझे प्रतीत हुआ कि जैसे यह अभियोग—सीधा मुझी पर होकर समूचे ब्रह्माण्ड की छाती पर है .

* * *

और उस गमलेवाली खिड़की पर रोज-रोज चोली-लुगड़ा बदलकर जो लीलामयी रमणी बैठी रहती है, उसका नाम रतन है। मुझे लज्जा नहीं है, बल्कि अभिमान है यह कहनेमें कि मै उसे जानता हूँ। जीवनके जिस अन्तर-देशमें मेरा उससे परिचय है, उसकी कैफियत देनेको मैं बाध्य नहीं। सर्वज्ञ होनेका दावा मेरा नहीं है, क्योंकि उस कजरारे कटाक्षके पीछे होकर भी मैं गुजरा हूँ। उन लीला की तरँगोंको भेदकर उस तलमें डूबनेका अवसर मुझे मिला है। घायल शिकार होनेका सौभाग्य या दुर्भाग्य भी मेरा नहीं रहा। एक बेदरकार राहगीर जैसा कि रोज मै उस सड़कसे गुजरता था, मैं तब भी था, जब उन आँखोंके पार—उस रक्त-पथ पर मुझे खींचा गया था।

जितना ही अधिक बेसरोकार मै विचरता हूँ, मेरी आँखें उतनी ही अधिक व्यापक जिज्ञासा लिये हर चीजके आरपार होती चलती हैं। हर जिन्दगीके गुप्तसे गुप्त कमरोंमें, मै बेखटके ट्रेसपास (अनधिकार-प्रवेश) करनेका अपराध करता चलता हूँ। इसका जन्मजात अधिकार मैने अपनी आँखोंमें पाया है। अपने इस निर्बाध साम्राज्यका प्रमाण मुझे अनायास ही कई बार मिल गया है। मेरी 'सूरत और आँखोंने, मेरे आस-पास चल रही दुनियामें परिचयके जाने कितने अनजान वृत्त बना दिये हैं। कई बार अजीबोगरीब, अनहोनी बातें, आग्रह-अनुरोध, इसरार-इकरार, रोक टोंक, इशारे-मुस्कराहट एकाएक सामने आ जाते हैं— नामसे पुकार दिया जाता है। तब अपनी हस्तीके विस्तारकी इस खूबसूरती पर मेरा मन 'सोह'के मौलिक अभिमानसे भर आता है। और तब बाहरके सारे अभिमानोंकी परिधियां तोड़कर मैं एक पानी की बूँद की तरह ढुलक पड़ता हूँ—और धरतीकी मिट्टीमें जज्ब हो जाना चाहता हूँ।

असाधारणता सदा इत्तिफ़ाककी नोकपर चढकर आती है। और वह भी एक इत्तिफ़ाक ही था कि उस रात करीब डेढ-पौने दो बजे, मैं सिनेमासे लौट रहा था। उस गलीमें एक खास तरहका आतक और खतरेका वातावरण रहता है, जिससे गुजरनेमें मुझे मजा आता है। सिगरेटका धुँआ उड़ाता हुआ इतमीनानसे ढीलम-ढालम मै चला आ रहा था। गली सुनसान थी। सिरेकी कोठरीके दरवाज़ेमें वह मानव-प्रेत वैसा ही अविचल बैठा गैल ताक रहा था। अन्दर मद्धिम-सी लालटेनका मद-मैला प्रकाश फैला था। बाहर सन्नाटा था और रात असूझ अँधेरी थी। मझरातके इस पहरमें लुहारकी भट्टीभी रुक गई थी।

गमलोंकी खिडकीवाले मकानके करीब आ रहा था, कि रह-रहकर किसी का दबा-दबा चीखना-चिल्लाना सुनाई पड़ने लगा। ऐसी त्रस्त और तीखी वह आह कराह थी, जैसे किसीको मरण-पीड़ा हो रही हो। उस मकानके सामने मेरे पैर ठिठक गये, चिपक गये। देखता हूँ, सामने सीढ़ीके दरवाजेमें कोई छायाकृति बाहर झाँक रही है। झपट कर एक अधेड़ स्त्री मेरे नजदीक आ गई—

"भला हो बाबू तुम्हारा, जो तुम आ गये।. . लड़कीने सखिया खा लिया है, अँतड़िया कट रही है—वह खून उगल रही है। डाक्टर बुला दो... तुम्हारा भला हो-जुग-जुग जियो! जानती हूँ तुम बहुत समझदार और गरीबके बेली हो बेटा पर-पर क्या करूँ... मुए पुलिसवाले--वे तो पहले ही से छाती पर मूँग दल रहे हैं..."

मैने कहा—"चुप रहो, ऊपर जाओ। ईश्वर पर भरोसा रक्खो, और खामोश बैठो। अभी पाँच मिनिटमें लौटूँगा, सब ठीक हो जायगा।"

नजदीक ही मराडीके सिरे पर, जिस बनियेके यहाँसे घी लाया करता था—जाकर उसके द्वार पर दो जोरके धमाके मारे। झुन्नूलाल मोदी हक्का-बक्कासा उठकर आया और किंवाड़ खोल कर चौकन्नासा देखता रह गया।

"अरे आप हैं-क्यों क्या बात..."

"झुन्नू, फौरन एक घड़ियामें पाँच सेर घी भरकर मुझे दो—एक सेकिण्डकी भी देर न हो---"

"क्यों बाबू साहब—ऐसी भी क्या... ."

"बात करनेका वक्त नहीं है--डिब्बा खोलो और घी भरो---"

लेकर लौटनेमें मुश्किलसे पाँच मिनिट लगे होंगे।

वह लड़की खिड़कीके पास ही, पलगके नीचे घायल परिन्दे-सी लोट रही थी। गोटेकी छड़ियोंवाला भारी घेरदार लहँगा—और चौड़े लप्पेकी किनारवाली लाल ओढनी, आधी पलगपर बिछी थी और आधी उसके तन-पर रह गई थी। मोगरेकी कलियोंका एक गजरा उसके गलेमें पड़ा था, जो खूनसे भर गया था। सामने खूनका ढेर भर वमन बिखरा था।

चुप चाप जाकर उसे पकड़ कर बैठाया और बुढियासे कहा—कटोरेमें घी भर-भर कर मुझे देती जाओ। लड़कीने एक बार मेरे कटोरेवाले हाथको ठेलना चाहा। मैंने उसकी भुजाको और भी दृढतासे दाब कर, उसकी आँखोंमे आँखे डाल कर देखा। वे आँखे ढुलक गईं, और वह घी पीने लगी। कटोरे-पर कटोरे घी उसके मुँहमें उडेल चला—पर सब भस्म, जैसे कोई हवन-कुण्ड हो। पीड़ाकी कराह कुछ कम हुई और वह किसी कदर शान्त हो चली। उसे उठा कर मैने चारपाई पर लिटा दिया और बुढ़ियासे कहा कि सिरहाने बैठ कर हवा करो। बुढियाके मुँहसे आशीर्वादके फूल झर रहे थे, पर वे पड रहे थे गालियोंके काँटों पर जो साथ ही किसीके नाम बुढियाके उसी दिलसे उगे आ रहे थे। सुने और बिना सुने वह सब मैं गुन रहा था।

मैं तुरन्त फिर झपटता हुआ झुन्नूलालकी दूकान पर जा पहुँचा और किंवाड़ खट-खटाये, एक और पॉच सेर घी की हँडिया भरवा लाया।

सीढियोंमें चढ-चढते रुककर मैं सुनने लगा। पीड़ित चीत्कारके स्वरमें वह लड़की उस बुढियाको गालियाँ दे रही है—

"ओ...माँ ..। ओ रण्डी डाकन, हत्यारी, कसाइन—तू मरने भी नहीं देगी मुझे—भट्टीमें भून-भूनकर मेरे प्राण लेगी...। हाय रे भगवान! ऐसे

भी कौन पाप किये हैं, जो जनकर जनम देने वाली माँ, मुझे यों नोंच-नोंच कर ठण्डी मौत मार रही है कौन समझे अरे, किससे कहूँ ? यह माँ ही ऐसी बेरन हो गई, तो फिर दुनियाँको क्या पड़ी है अरे भगवान ? तू भी मर गया है क्या ? आह आह..."

बुढिया उसका मुँह बन्द कर चुप-चुपानेकी कोशिश कर रही थी ।

ऊपर चढ़कर ज्योही मैं कमरेमे दाखिल हुआ, वह लड़की गाली देते-देते रुक गई ।

मैंने बुढियाको इशारेसे दूर हटा दिया । बिठाकर तीन-चार कटोरे घी और उसे अपने हाथों ही पिला दिया । चलनेसे पहले उसके चेहरे पर मेरी दृष्टि पड़ी । विषकी तीव्र वेदना और नीली छायासे वह चेहरा कुम्हला गया था । कहीं ओंठों पर थोड़ा रक्त लगा रह गया था । अपने ही आकर्षणकी आगमें जल उठा यह रमणीत्व ?—रूप और यौवनकी ऐसी दारुण ट्रैजेडी ? उन सुन्दर आँखोंकी बेबसीमें, वह सरल बालाका निवेदन तैर आया। अपनी आँखोंके सारे जहरको स्वयम् ही पीकर, वह कुमारिका पवित्र जिज्ञासाकी चितवनसे मेरी ओर देख उठी । मानों पूछ रही हो—अरे तुम कौन हो— कौन हो राहगीर ? और टप्-टप् दो बड़े-बड़े आँसू उन गालोंपर ढुलक आये । मने देखा—समझना चाहा, अन्तरके जाने कितने स्तरोको भेदकर वे आँसू आये होंगे . । स्नेह ? कृतज्ञता ?—नहीं, नहीं—विद्रोही चेतनकी अग्नि-वाणी । मनुष्यताकी जाने कितनी लाशें उसकी आत्माको दबाकर वहाँ लेटी थी । वैसी आँखें और वैसे आँसू मैंने पहले कभी न देखे थे ।

मै क्षणभर भी ठहरे बिना ही लौट पड़ा । सीढीमेंसे ही कह दिया—"घी यह सब पिला देना सुबह तक, और सोने मत देना । इसमें चूक न रहे...'

* * *

पशुको अपनी छातीपर लिटा कर मनुष्य बनानेवाली नारी, अपने कोमल सीनेमें वह बल भी रखती है कि इस पशुके सारे पीड़न, अत्याचार

और दशकी हिंसाको सहन कर, उसके समूचे विषको पचा सके, और उसके बाद भी अपने प्यार-वात्सल्यकी गोदमें लिटाकर उसे मनुष्य बना दे।

पचपन वर्षके विधुर जेठजी, और सुन्दर विधवा हो गई। पुराना लखपती घर था, बड़ा नाम था—और घरानेकी वश-परम्पराकी प्रतिष्ठा थी। . किसी न किसी बहानेसे हवेलीके सब किरायेदारोंको धीरे-धीरे निकाल दिया गया। जेठजी अपनी रईसी और शौकीन तबियतके लिये मशहूर थे। राधा-नगरी किनारकी मक्खनिया धोती, बढियासे बढिया मल-मल, वॉइल या डोरियेका चुन्नटदार तनजेब और उस पर बेशकीमती चिकन कामकी जेकेट या फिर कभी कमख़ाबकी जेकेट और उसपर निहायन महीन अँगरखी। कानोंमें दम-दम करते हीरेके लौंग और बड़े-बड़े मोतियोंकी भँवर-कड़ी पड़ी रहती। जेठजी मन्दिरमें नित्य सवेरे तीन घण्टे पूजा करते, सुबह-शाम दूधिया ठण्डाई छनती, घरमें नित नये पक्वान—और आये दिन बाग़ोंमें रोज सेलें उड़ती। इतर-फूलेलोंसे महमहती जीवनकी हवाएँ, ख़श और केवड़ेमें बसी हुई पानकी गिलोरियाँ।

इतनी बड़ी दो चौककी सूनी हवेली रातको खाने दौड़ती। चौबिस घटे हवेलीमें रहनेवाले पुराने नौकर-नौकरानियोंको भी एक-एक कर रुख़सत मिल चुकी थी। नये नौकर-चाकरोको रातमें ड्योढ़ी लाघनेका हुक्म नहीं था। सुन्दर अपने ऊपरके कमरेमें अकेली सोती थी, और जेठजी अपने छज्जेकी वैभव-शैय्यामें पहलेहीसे अकेले थे।

...आखिर वह अशुभ घड़ी आ ही तो पहुँची। सुन्दर बहुत रोई-धोई, चिल्लाई, सिर पीटा, पछाड़े खाये—और आख़िर हार कर रह गई...। अपनी जाघ वह कैसे उघाड़ती .?—कुलकी अपकीरत होती, पतिके नामपर बट्टा आता, उसका मुँह बन्द था।

जो नाइन हवेलीमें सेवा-चाकरी करने आया करती थी, उसने भी अपनी जवानीके दिन देखे थे—जेठजीके रँग-भवनमें। और अब भी वही उनके बुढापेका अन्तिम सहारा थी। हवेलीमें उसकी बड़ी इज्जत थी, बड़े आन-पान थे। कुलीनाका-सा लम्बा घूँघट काढ़े अब भी जब पाजेब झनकारती

हुई वह पौरमें पैर रखती, तो सभी नौकर-चाकर उसके नाज उठानेको तैयार हो जाते। ..चकोर नाइन तुरत भाँप गई। ऐ, उसका सिंहासन छिन जानेकी घडी आ पहुँची ? पेटमें घुसकर वह बहूकी हितू बनी—और भोली सुन्दरने भेद दे दिया। नाइनकी ईर्ष्या नागनसी फूत्कार उठी। बडे घरका ठीकरा फूट गया

रात-रात भर दिया बालकर महीनों जात- बिरादरकी बडी-बड़ी पंचायतें हुई। आखिर फैसला दिया पंच-परमेश्वरोंने सेठ जमनालाल पर १००१ डण्ड, मन्दरमें ओच्छ्व और तीन जातके जीमन। वे बिरादरीमें ले लिये गये। और औरत ?—मिट्टीका बर्तन, जूठा हो गया सो हो गया, उसका किसीके पास क्या उपाय ? और अगर वही सती-शीलवन्ती होतीं तो हजार तरह बच जाती। पर तिरिया-चरित्तर है, भाई !—देवो न जानाति कुतो मनुष्य। जनम-जिन्दगी वह जात-बाहर—सेठ जमनालाल उसे हवेलीसे निकाल बाहर करें।

..पर उस स्त्रीकी स्थिति—उसका अस्तित्व ? इसके बाद उस जीवन की क्या कल्पना हो सकती है ? न्याय-दण्डके धारक यह क्यो सोचे, और फिर दण्ड दिया ही किस लिए गया है। पापकी रक्षा कैसी, उसके जीवनका क्या प्रश्न, कैसा आदर ? क्या इसके लिये मुक्ति और स्वर्गके विधाताओंने नरककी रचना नहीं करदी है ? पर मनुष्य...? उसकी आत्मा...?

बाजारमें ये जितने भी आदमी घूमते नजर आते हैं, उनका एक घर है, सामाजिक स्थिति है, उनका धर्म है, मार्ग है, मर्यादा है। अपने-अपने मानसें हर एक व्यक्तिकी छोटी-मोटी इज्जत है, मूल्य है। पर इस बाजारमें तो इन सब अपेक्षाओंसे मुक्त अर्थका परिचय है, लेन-देन है, खरीद-बिक्री है। नग्न प्रलोभन और तृष्णासे वह चालित है। निर्लज्जता यहाँ स्वभाव है, और असत्य यहाँ नीति है।

बाजार उठ जानेके बाद जीवन अपने घर, कुटुम्ब, समाज और धर्ममें जाकर आश्वस्त-आश्रयित हो जाता है, विराम पालेता है। पर सुन्दर ? आज उसका घर नहीं है, सामाजिक स्थिति नहीं है, धर्मकी साक्षीसे वह तिरस्कृता है, परित्यक्ता है। वह बाजारमें है, और उसके अस्तित्वकी शर्त, उसके

जीवनका मूल्य है—मात्र बाजार दर, पैसा! जीवनकी चिनगारी उसके सारे रक्त मास पर अधिकार कर, पिण्ड-आकार पा रही थी। उसके विवश आत्मघातके भीतरसे जीवन चीत्कार करता हुआ बोल रहा था। . हाँ, वह जियेगी, जियेगी, उसे जीना ही होगा! मौतके मुखपर वह जीवनका सत्याग्रह है, जीवनी-शक्तिका अनिवार्य अनुरोध है। फिर उसे जीवनके प्रति अविश्वास क्यों हो—सन्देह क्यों हो?

× × ×

उसके बादके सात-आठ वर्षोंका वह सुन्दरका जीवन प्रकाण्ड, दुरन्त अन्धकारमय जीवनके वे बर्फीले तलघर! अपनी ही आत्म-ज्वालासे भीतर-भीतर सुलग उठा वह ज्वालागिरि? वह स्वयम् आज कठोर नियति बनी कालके वक्षपर जीवनका व्यंग-चित्र बना रही थी।

. रोटीवाली, पीसनेवाली, पानीवाली, दासी, पानवाली, नखरेवाली, रखैल, वेश्या, सेठानी—राक्षसी, डायन—सुन्दर। रतनकी माँ?

जीवनके रौरवमें यो लगातार खपते, झुलसते रहकर उम्रके तीसवे वर्षमें भी सुन्दरकी चम्पक वर्णी सुकुमार देह, अपने आस-पास बिखरती आकर्षणकी भाँवरें न मिटा पाई थी। उस गमगीन, कुम्हलाये चेहरेमें भी पिछली रातके ढलते चाँदकी पाण्डुर मलिन मोहनी शेष रह गई थी

उसने सभी कुछ कर देखा था, पर उसे शरीरके सिवा और किसी चीज का कोई मेल मिल ही न सका था। फिर हृदयका मोल पानेका तो जिक्र ही क्या हो सकता है

तब मायाने अपने मोहन-साम्राज्यकी सामर्थ्य और सत्ताको पहिचाना। कड़ीसे कड़ी मजदूरी और हीनसे हीन प्रकारका दासत्व करनेपर भी, सारी आजीजी, लाचारी और मोहताजीके बवजूद, पैसेकी माँगके स्थलपर आकर जब हर बार उससे शरीर की माँग की गई, तो दर-दर भटककर आत्मा का अपमान कराते फिरना उसे असह्य हो गया।...माया अपने ही केन्द्रपर आकर डट गई, अपनी ही मिशनकी 'जमीनपर उसने विद्रोह किया। लाखों

और शीलका विद्रूप, दाम्भिक आवरण फाड़कर, उसके लोथड़े उसने आबरू-दारोंके अन्त पुरोंके घूँघटोंपर फेंक दिये। और इसी नगरके गर्वीले जौहरी-बाजारमें, धनिकोंकी उत्तुग महल-अटारियोंके बीच दबे एक छोटेसे तिमंजिले मकानकी दूसरी मजिलके दीवानखानेमे, उसने जीवनके इस नये अभिनयका आयोजन किया।

वैसा ही सेठानियोंका-सा बोर—खरे नहीं तो खोटे हीरे-मोतियोंका ही सही, वैसे ही, पर इमिटेशन मोतीके गेद-चूड़ियों और गोखरूका सिंगार। मर्दित, क्षीण, मृणाल-देहकी पाण्डुर गोराई, अपने क्षयके विषादमें ही, जन्मान्तरों तक झटका देनेवाला पागल आकर्षण बिखेर चली। पीले अतलसके घेरदार लहँगेपर डबलियेकी काली चुनड़ीकी ओढनी, गोटेके कामकी कसीली चोलीमें यौवनका मुक्त उत्तोलन, उसपर खसकता डोलतासा वह जैपुरी चालका पल्ला, भालपर बड़ी-सी काली बिंदिया और कानोंमें सात हीरोंकी दम-दम करती फुल्लीदार लौंगें।

खुले मुह, बोरके पीछे पल्ला सरकाकर, साड़ीकी एक कोर गालपर एक हथेलीसे दबाये, शामके वक्त वह अपनी गेलरीके खम्बेपर माथा ढुलकाये खड़ी रह जाती। प्रतिष्ठाकी रेलिंग थामकर खड़े हुए अमीर-जादोंका कौलीन्य-गौरव उस मोहनीके पैरोंकी धूल बन जानेको तरस उठता। यों दिनपर दिन बीतते चले। घूँघटोंमें ढकी हुई आगपर इस खुली आगने विजय पाई।

...चोटपर चोट चढी—तिजोरियोंमें होड़ें हो गईं, बाप-बेटोंकी दृष्टियाँ लड़ गईं, मर्यादाएँ टकरा गईं। आखिर एक आधीरात एक छोटी-सी बेबी-ऑस्टिन उस तिमंजिले मकानके यहाँ आकर रुकी और पाँच ही मिनट बाद चम्पत हो गई। आठ वर्षकी अल्हड़ रतन जाग उठी और पूछ बैठी—"माँ—कहाँ चलोगी अब ?" .और अगले सवेरे वह दीवान-खाना खाली था...

× × ×

सेठ नदलाल झाँझरियाकी नीलम-बागवाली सगमरमरी कोठीके एक झरोखेपर सुन्दर खड़ी है। आस-पास घटादार वृक्षावलियोंवाला एक सुन्दर

उद्यान फैला है। सामने सवेरेकी नई धूपमें बल खाती हुई नदीकी लहरें चली जा रही हैं।

आठ वर्षकी बालिका रतन अभी-अभी जागकर उठी है। आस-पास वैभव का यह स्वप्न-लोक देखकर उसकी आँखें आश्चर्य और कौतूहलसे फटी रह गई। माँके पास आकर पहले तो वह चुप-चाप खड़ी देखती रही—फिर उसने प्रश्नोंकी झड़ी-सी लगा दी। और माँ अपनी भरी जवानीके उन काले कड़ुवे दिनोंका मज़ाक कर तीखी-सी हँसी हँसती हुई उसे टालने लगी...

..ऐसे ही रोज़ वह बेटीको अनेक भुलावोंमें बिलमायाँ, बहलाया करती। कभी-कभी रतन उदास होकर एकान्तमे चली जाती। सुन्दरकी आँखोंमें आँसू आ जाते। उस अबोध मुखपर जाने कैसे एक अतिम प्रश्नका आग्रह झलक आता। इस मासूम, नादान लड़कीमे यह कैसा कठोर, प्रखर सत्य बोल रहा है? अपने प्रश्नका उत्तर न पाकर वह बाला जाने कैसी कुण्ठासे पीड़ित हो उठती। वह अकेलेमे भटक जाती। दूर खड़ी सुन्दर छलछलाई आँखोंसे देखती रह जाती। उसका जी बहुत टूटता कि बेटीके उस दुख-भरे मुखड़ेको हृदयसे चाँप ले। पर उसका वह प्रश्न—उसकी वह पीडा? सुन्दरके पास कोई उत्तर नहीं था। वह मन मसोसकर रह जाती।

वेश्याकी कोई निश्चित परिभाषा नहीं होती। फिर आज तो पत्नी और वेश्याका भेद भी खतरेमें पड गया है। लेकिन वेश्या हो पाई हो या न हो पाई हो, सुन्दर सेठानी हो गई—स्वीकृता और आमफहम सेठानी। सेठ नन्दलाल झाँझरियाने चालीस वर्षकी उम्रमें विधुर होनेपर दूसरा विवाह किया था अवश्य, पर बयालीसवें वर्षमें सुन्दर नई सेठानीपर बाज़ी मार गई।

वेष-भूषाओंकी नव-नवीन रगच्छटा, उफनती शैयाओंकी माँसल कोमलता और गुदगुदी, सेंट-टॉयलेटोंके सौरभ-फेनोंसे तरंगायित भोग-ऐश्वर्य की वे प्रमत्त सध्यायें। सुन्दर जैसे लहरोंके हिंडोलेपर झूलती हुई बही जा रही थी।

और रतनने बाप पाया था—ऐसा कि जिसके गलेमें डेढ लाखका नीलमका कण्ठला झूलता था। रतनके लाड दुलारोंकी क्या कहिए। माँसे

यह बेटी बाज़ी मार गई ।

नन्दलाल बाबू मध्य देशके राजे, नवाबों और अमीरोंके बीच अय्याशी में अपना जोड़ नहीं रखते थे । नीलम बागकी यह सगमर्मरी कोठी, शहरसे तीन माइल दूर, अजना नदीके किनारे उनका विलास-भवन था । काश्मीरकी झीलोंके तटपर, गर्मियोंकी चाँदनी रातोंमें मुगलोंकी किसी ऐशा-गाहकी कल्पना ही बाबू साहबने इसमें उतारनी चाही थी । यह तिमजिला विशाल भवन, राजपूताना-वास्तु पर बनाया गया था । उसके मेहराबदार, गुम्बद-दार भव्य गोखडे नदी पर झाँक रहे थे । सबसे ऊपर वह पच्चीकारीके सुन्दर कठघरों वाली विस्तृत अटारी है, जिसके चारों कोनों पर, चार कलशोंवाले आकाश-वातायन झूल रहे हैं । छतके बीचों बीच एक नीले पत्थरका सुरम्य हम्माम बना है, जिसमें गर्मियोंकी चाँदनी रातोमें पाइप खोलकर जल-क्रीड़ाके लिये पानी भर दिया जाता है । सेंट, इत्र, लवेण्डरकी शीशियाँ उसमें उडेल दी जाती हैं, और पानीके भीतर बिजलीके नीले ग्लोब उजाल दिये जाते हैं । मजरियोंकी सौरभसे मत्त दक्षिण पवन की तरगें, और स्नान-केलिका वह मुक्त आयोजन !

ऐसी ही एक चाँदनी रात थी । सुन्दर, दिशाओंकी पुत्रीसी अवसन, अर्धाङ्ग जलमें डुबाये हम्मामके ढाल पर अध-लेटी थी । अपने एक हाथसे पासही पड़े गमलेकी क्रीपरसे वह खेल रही थी । छतके रेलिंगकी जालीमेंसे चाँदनीमें चमचमाती नदीकी लहरें झाँक रही थी । सुन्दर उस ऊर्मिलतामें बह कर चली जाना चाहती थी—जाने कहाँ--दिशाओंकी गोदमे वह लौट जाना चाहती थी । इस वैभवके कीचड़से जैसे अब उसका जी ऊब गया है । पर एकाएक वह सारा ऐश्वर्य एक-बारगी ही बेडी बनकर उसके पैरोंमें खनक उठा ।

...अचानक किसीने उसकी भुजा पर हाथ रक्खा । उसने चौंककर पीछे देखा रबरका बार्दिग कॉस्टयूम पहने बाबू साहब पास बैठे हैं । दृष्टि मिलते ही सुन्दरने आँखें फेर लीं । बाबू साहब कातर कण्ठसे बोले—

"इस भुजाकी गोलाई पर दुनिया का साम्राज्य निछावर है--सुन्दर !"

"साम्राज्यसे बड़ी भी कोई चीज़ इस दुनियामें है बाबू साहब ?" बिना दृष्टि फेरे ही सुन्दरने पूछा। वह अभी भी वैसे ही क्रीपरसे खेल रही थी।

"अ अ. . तुम जो हो मेरी सुन्दर-रानी।" अधीर, आतुरसे बाबू साहब उस पर झुक आये थे।

सुन्दर खिल-खिलाकर हँस पड़ी।

"हाँ यह गोल भुजा यह शरीर... यह आपके प्यारका खिलौना—मैं तो भूल ही गई थी" और वह फिर खिल-खिलाकर हँस पड़ी। एक लीला-चञ्चल अगड़ाई भरती हुई वह उठ बैठी और उसने अपनी दोनों बाहें फैला दीं।. . एकबारगी ही उस ढाल परसे फिसल कर वे दोनों हम्माममें डुबकी लगा गये।

भाति-भातिकी क्रीड़ाओंके बाद, अनेक सुगन्धोंसे निबिड़, चाँदनीसे आविल उस जलके भीतर युगल शरीरोका तन्निष्ठ सुख अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था।

"इससे भी बडी कोई चीज़ हैं, बाबू साहब, आपके पास ? " चैतन्य रमणीका मर्म-वेधक कण्ठ स्वर पूछ उठा।

"...आह, रानी, इस सुखकी कहाँ सीमा है...?"

"तो इससे आगे कुछ नहीं है—कुछ नहीं...?"

"तू है तू है बस तू ही तू है...मैं क्या जानू...?" वासना-मूर्छित, विकल पुरुषने उत्तर दिया।

××× बाबू साहब जाने कब सो गये थे, सुन्दर को ध्यानही नहीं रहा था। वह चुप-चाप उठकर अपने सिंगारके कमरेमें चली गई—और अपने आदम कद आईनेके सामने खडी हो गई। उसे क्षणैक भान आया कि वस्त्र पहनना वह भूल गई है। फिर वह अपने ही रूपकी आभामें डूब चली। मानो अपने ही सौंदर्य-जलमें अपनी परछाहीं देखकर वह अपने एक एक अग-प्रत्यगसे खेलने लगी। . उन अगोंको मानों वह भेदना चाहती है- -उस मांसको जैसे वह छील-छील डालना चाहती है। और जाने कब वह ऐसी आत्म-हिंसक हो उठी —कि अपने अपने ही नखोंसे अपनेको

नोंच नोंच डाला, अपने वक्ष-मण्डल को क्षत-विक्षत कर दिया। सीने पर रक्तकी धाराएँ चू आईं...।

.दिन फूट आया था—वातायनसे उजाला झाँक रहा था। भानमें आकर सुन्दर सहम उठी। यह क्या हो गया है उसे? क्या वह प्रेतिनी होठी है, या वह किसी प्रेतके कब्जेमे थी अब तक? वह अपने ही आपसे भयभीत होकर थर थरा उठी। दर्वाजा बोल्ट करके वह सिंगार-घरकी शैय्या पर औंधी जा गिरी और रो पडी फूट कर—अरे इसके सिवाय और कहीं कुछ नहीं है उसके लिये? पर उसके सीनेके भीतर यह क्या धड़क-धड़क कर उठता है रह-रह कर?—वह क्या चाहता है—क्या है उसकी पुकार? किसके पास है इसका उत्तर? वह विसूर-बिसूर कर रोने लगी।

अपने को पानेकी तीव्र जिज्ञासा लेकर वह अवचेतनकी अन्ध गर्भ-शैय्यामें डूब चली। जीवनके जिन नरेकोंको पार करके वह यहाँ आई थी, उन्हीं में वह लौट पड़ी--अपने खोये हुए धनकी तलाशमें। कोठरीके बाद कोठरी और द्वारके बाद द्वार पार करती वह बढती ही गई। एक-एक कर अन्धकार की बेशुमार तहे फटती गईं—।...और अचानक उसे उजाला दिखाई पड़ा। चेतनाके निर्मल जलमें उसके स्वर्गीय युवान पतिका वह सौम्य, शान्त मुख मुस्काराता दिखाई पड़ा। उस चेहरे पर कोई शिकायत नहीं है—अभियोग नहीं है। पर उस मुस्कराहट में एक गहरा विषाद है, अप्राप्य दूरी है, निश्चल उदासीनता है। सुन्दरने दोनों हाथोंसे सिर पीट-पीट डाला। सीने को मसोस-मसोस कर हृदयकी घुण्डी को तोड देना चाहा—कि कुछ करके अपनी आत्माको पासके तो उन चरणोमें चढा दे—अपने अन्तरके सत्यको दिखा दे, कि 'मैं तुम्हारी हूँ—और चिर कालसे तुम्हारी हूँ! दुर्दान्त मगर-मच्छोंसे भरे इस ससार-समुद्रकी मझ-धारमें तुम मुझे अकेली ठेल कर चले गये। मैं तो निरी अबला थी—एक ओर लहरोंके भयानक थपेड़े थे, और चारों ओरसे मगर-मच्छ, अजगर मुह बाये चले आ रहे थे। मेरा कोई वश न चल सका! कहीं कोई कूल किनारा न दिखाई दिया। मैं क्यों अबला थी—सो तो तुम्हीं जानो, ओ

मेरे युग-युगके विधाता पुरुष ! पर क्या सारा दोष मेरा ही है ? यही तुम विचार कर लेना। अपनी यह फरियाद लेकर कहाँ जाऊँ ? तुम्हें छोड़ दूसरा कौन मेरा न्याय करेगा ? मेरे सारे पुण्य-पापोंका लेखा तुम्हारे आगे है। तुम्हींमें मैंने भगवानको पाया था—तुम्हीं मुझे क्षमा न करोगे तो फिर किसी भगवानमें मेरा विश्वास नहीं है ! मुझे अंगीकार करो—इस नरकसे उठाकर मुझे अपने चरणोंमें ले लो..' वह मुख वैसा ही कठोर, उदासीन, नियति की अचल व्यंग-मुस्कराहटसे मुस्करा रहा था। सुन्दरने मानो शरीरके सारे स्नायुबंध और नाड़ियोंको तोड़कर उस पाषाणी मुस्कराहट पर अपने प्राण को पछाड़ देना चाहा। .. वह धम्मसे पलंगसे नीचे आ गिरी ..

कहीं कुछ नहीं था। दिनका निर्लज्ज उजाला तेजीसे कमरेमें भरा आ रहा था। चारों ओर वेष भूषा, शृङ्गार-सामग्रियोंका जंगल फैला पड़ा था। हृदय थाम कर वह उठ बैठी, और सतर्क, पगलाई-सी आँखोंसे वह चारों ओर देखने लगी। निराशाकी एक वज्र-सी ठोकर लगी—और हृदयका वह उघड़ा हुआ द्वार बंद हो गया। जैसे एक चट्टानके नीचे वह दब गया हो।

सामनेके दर्पणमें एकाएक दृष्टि पड़ गई। उसकी उसी सुगोल भुजाके भँवरपर यौवनका पूर्ण प्रफुल्ल अभोज मतवाला सा झूम उठा। माया गर्वसे मचलकर अपनी सत्ताके हिण्डोले पर पैंगें भरने लगी। वह उमंगसे कोई राग छेड़ती हुई अपनी आजकी नई पोशाक चुननेमें तन्मय हो गई।

यों ऐश्वर्य और विलासके कोड़में जीवन प्रमत्त होकर लोट रहा था। चारों ओर एक मादक सुखकी मूर्छा फैली थी। सुगन्धके हिलोरोंपर अंगड़ाइयाँ भरती हुई देह बेसुध बल खा रही थी। बीतते हुए समयका भान वहाँ नहीं था। अपनी ही मोहिनीके समुद्रका दिन-रात मन्थन करती हुई सुन्दर, उसमेंसे भर-भर प्याले विष निकालकर पीती हुई झूम रही थी। अपने काले ओठों और मदभरी आँखोंसे हँसकर वह अपने ही जीवनका मज़ाक उड़ा रही थी।

...बाहरके लीला-प्रमोदोंसे थक-हारकर, आँख मीचकर वह सो जाती कि भीतरका प्रमाद धक्का देता, फिर बाहर वही लालसा का विवश आलोड़न। थकान और जुगुप्साको जैसे वहाँ अवकाश ही नहीं था। हर चाहसे

उत्पन्न पीड़ाको मिटानेके लिये, उस महलमें नव-नवीन सरंजाम थे। हर इच्छाके उत्तरमें एक तिलस्मी पिटारी-सी खुल पड़ती। महलमेंसे महल और द्वारमेंसे द्वार खुलते जाते थे। मायाके इस इन्द्रजालका कोई अन्त ही नहीं था। अन्त होता तो ससारकी परम्परा ही कैसे चल पाती ? पर क्या ऐसे पुरुष-पुगव नहीं गुजरे है, जिन्होंने उसके सीमान्तको पाकर लाँघा है ? उसके छोरको पा गया था, इसी लिये न क्या कपिल वस्तुका राजकुमार उस आधी रात उस अप्सरा-कूजित महलसे—मायाके साम्राज्यको ठोकर मार कर जगलकी राह चला गया ? पर सिद्धि पाकर उसे रखनेके लिये पात्रकी खोजमें क्या वह फिर मायाके द्वारपर भिक्षार्थी बनकर नहीं लौटा था ? अज्ञानिनी, सुन्दर यह सब कुछ नहीं जानती है—पर अपनी आदि शक्तिका पार्ट अदा करनेमे वह चूक नहीं रही है।

पर कभी-कभी किसी गरमीकी दोपहरकी उदास, निर्जनतामें, अथवा आधी रातके सन्नाटेमें जब नीद उचट जाती तो एक अज्ञात निराशाकी विभीषिकासे वह सहम उठती। अनबूझ सन्देह उसके वक्षमें कसक उठता। मर्मके भीतर ही भीतर यह कौनसी अनिवार्य शल्य हूल रही है ? वह भयसे बिलबिला उठती। .उसका अपना शरीर ही उसके लिये पराया हो उठा है। अपने अग-प्रत्यगको वह आँख गडा-गडा पहचाननेकी कोशिश कर रही है। हिस्टिरिक दृष्टिसे वह कमरेकी प्रत्येक वस्तुको घूर रही है। छतों और दीवारोको भेदती हुई जैसे वह दृष्टि अभी निकल जायेगी—तलवारका-सा पानी उन नयन-कोरोंमें झलक जाता।

. कमरेमें भरे उस सघन आतंकमे—कौन छाया सी अभी यहाँ से निकल गई है ? और एकाएक उसे दिखाई देता—एक जर्जर, विकराल वृद्धाका कंकाल उसकी शैय्याके आस-पास फेरी दे रहा है। उसके हृदयकी धड़कन जैसे रुक जाती। भिचते गलेमे चिल्लाहट दबाये वह भाग खड़ी होती।

वह उस कमरेमें चली जाती जहाँ नाना भंगिमाओंवाली विलास-मुग्ध नग्न रमणियोंकी मर्मरकी पुतलियाँ सजी हैं। उनके बीचों बीच एक झूलती हुई

नीले मखमलकी शैय्या बिछी है। उसी शैय्यापर बैठ कर वह खट-खट-खट, चार-पाँच स्विच दबा देती। छतोंमें लटके अनेक नीले गुलाबी फानूस झल-झला उठते। और वे मर्मरकी पुतलियाँ जी उठती। अनेक रगोंकी लहरोंवाले उस तरल प्रकाशमे, नाना हाव-भावोंके भग तोड़ती वे रूपसियाँ सुन्दरके आस पास तैर उठतीं। मानों वह इस सौन्दर्य लोककी सम्राज्ञी है—और ये उसीके लावण्यकी लहरें चारों ओर फैल रही हैं। चारों पूरी दीवारोंके दर्पण इस बातकी साक्षी दे उठते। अपनी मोहिनीकी मदिराका एक और प्याला वह पीलेती और फिर वही जीवन !

. .समय और ऋतुएँ जीवनके अलस फलक पर मन माने चित्र बनाते जा रहे थे। रात और दिन, धूप और छायाके रंग बेखबर चढ उतर रहे थे। पलकके गिर कर फिर खुलने मात्रमें सात वर्ष कब बीत गये, कुछ पता ही न चल सका। स्नान-घरमें तौलियेसे शरीर पोछती हुई जब वह दर्पणके सामने खड़ी थी—तभी मानों बिजलीके खटकेसे एक-दो-तीन, लम्बे-लम्बे सात वर्ष उसकी आँखोके सामनेसे सरक गये। सवेरेकी धूपकी एक तिरछी किरण उसके चेहरेपर पड रही थी। दर्पण जैसे घोषणा कर उठा। उन मतवाली आँखोकी मोहनी वैसी ही बनी है—पर उनके नीचे गहरे-गहरे काले कुण्डल पड गये हैं। उस मुखकी सौन्दर्य-रेखाएँ ढीली पड गई हैं। गालो और लिलारकी स्निग्ध त्वचामे बारीकसी सिलवटे पड़ गई है। और कघी उठाकर ज्योही केशों में दो-चार बार फेरी कि काले-भँवर केशोके बीच दो-चार रुपहले केश चमक उठे। परेशान होकर उसने बाल झँझोड़कर बिखेर दिये। क्या यह सच है? एक दो तीन चार अरे गिननी ही नहीं है। जीमें आया कि उस दर्पणको ठोकरोंसे चूर चूर कर दे। चारो ओरका लोक जैसे शून्य हो गया और उसके अस्तित्वकी बुनियादे हिल उठी। कहीं सहारा न पाकर बेसाख्ता वह सिर उस दर्पण पर जा टकराया। उसने समझा कि दर्पण फूट गया है। पर कपाल पर हाथ फेरते हुए पाया कि उसकी अँगुलियोसे यह लाल-लाल क्या टपक आया है—रक्त? अरे वह तो इस दर्पणको अपनी ठोकरोंसे चूर कर देना चाहती थी न? दोनो हाथोमे मुह ढक वह रो पड़ी और धपसे धरतीमे लोट गई।...

इधर कई दिनोंसे नन्दलाल बाबू नीलम बाग नहीं आते हैं। सुन्दरने सुना है कि आज कल उन्हें दम लेनेकी भी फुर्सत नहीं है। वे स्वय ही मिलोंका काम देखते हैं, और शहरकी अपनी दूकानोंकी देख-रेख भी उन्हें खुद ही करनी पड़ती है। शेअर, चाँदी और कपडेके बाजारोंमें बडी करारी उथल-पाथल चल रही है। आसामिया आये दिन बातकी बातमें टूटी जा रही रही हैं। इधर नन्दू बाबू माथे-पोतेके खेलमें भी गहरा दाँव खेले हुए हैं। इसीसे शहरके करीब ही अपनी 'जेस्मिन क्लब' वाली कोठीमें वे रहते हैं, वहीं मिलके हिसाब-किताबोंकी जाँच पड़ताल भी चल रही है—वगैरह-वगैरह।

बीच-बीचमें कभी इधर आ जाते हैं, तो नीचेके दीवान खानेमें ही बैठते हैं। सुन्दर कभी उन्हे अकेले पाकर दीवान खानेके द्वारपर जा खड़ी होती है—तो कह देते हैं—"अच्छा, चलो ऊपर—मैं अभी आया......!" वह ऊपर जाकर द्वारमें टक-टकी लगाये धड़कती छातीसे प्रतीक्षा करती है, तभी मोटरका हॉर्न सुनाई पड़ता है। वह झपट कर बालकनीमें जा पहुँचती है, धूल उड़ाती हुई वह सफेद हवाई जहाज-नुमा मोटर कोठीसे बाहर हो गई है।

पर रतन-बेटीके बिना बाबू साहबको छिन भर भी चैन नहीं। जब देखो तब 'जेस्मिन-क्लब' से बुलावा आ जाता है कि 'रतन-रानी' को दोपहरका नाश्ता लेकर भेजो। शामको रतन लौटती है तो ढेरके ढेर नये तोहफे लेकर। पन्द्रह वर्षकी रतनका मन अभी भी अपने बागकी फुलवारीमें, नये-नये रंगकी तितलियोंसे ही खेलनेमें लगा है। कुछ वैसे ही सहज कौतूहल और लीलाके भावसे वह तोहफोंके वैचित्र्यमें भी खोई रहती है। नव-नवीन रंग-डिजाइनोंके साड़ी लहँगा - ब्लाउजोंके इन्दौरी सेट, नईसे नई काट और कसीदोंके लेडीज-कोट, किस्म-किस्मकी सिगार दानियाँ, चुंधिया देनेवाले चायना और काच खाने, भाँति-भाँतिकी चूड़ियों और टॉप्स-ईयररिंगोंके सेट, अजीबो गरीब इमिटेशन जेवरोंके बक्स लाकर वह माँके सामने ढेर कर देती। खुशीसे नाचती-फुदकती हुई एक एक चीज दिखा कर वह माँको रिझानेकी कोशिश करती। पर रतन इन दिनों मन-ही-मन सहज अनुभव

करती थी कि माँ आजकल बहुत उदास और गम्भीर रहती हैं। एक ही पोशाक कई दिन चलती है, राग-सिंगारके आयोजन गायब हो गये हैं माँके हृदयकी राह तो जाने कबसे उसके लिये बन्द हो चुकी थी, इसलिये उस ओर तो वह भूले-भटके भी पैर नहीं रखती थी। फिर भी रतनकी प्रत्येक चेष्टामें अनायास यह भाव होता था कि वह माँको खुश कर सके। यों सुन्दरके एकान्तमें जाकर, उसके निकट हो—उससे सीधे प्रश्न कर सकनेका साहस और अधिकार जताना उसके लिये सम्भव ही नहीं था। अपने विलास-कक्ष पर 'रत्न' का ताला डालकर माँने बेटीके लिये वह द्वार तो जाने कबसे बंद कर दिया था। पशुओंकी मूक सहज वृत्तिसे एक दूसरेका दुख दूरसे ही देख कर वे आह भर लेतीं—और फिर बाहरकी माया-मरीचिकामे खो जाती।

विषादसे मलिन चेहरे पर जबरदस्ती मुस्कान लाकर वह रतनकी खुशियोंमें योग देना चाहती। पर दूसरे ही क्षण वह मुस्कानकी रेखा व्यंगमयी हो उठती। ईर्ष्याकी एक हरी सर्पिणी उसमें लहरा कर लोप हो जाती। एक अज्ञात खतरेके चिन्ह उसकी आँखोंमें कौंध कर बुझ जाते। कलेजा मुहको आने लगता कि, कैसे इस बेटीको प्यार करे, पर वह रक्तका घूँट उतार कर रह जाती। बेटीको प्यार करना माँके वशकी बात नहीं रह गई थी।

इधर एक फाख्तई नावकी शक्लकी छोटी-सी मोटर और एक मोटर-साइकिल भी बाबू साहबने रतनके लिये मँगवा दी है। शोफरको साथ लिये दिन-भर वह ड्रायविंग सीखनेकी धुनमें लगी रहती है। नन्दू बाबू पोलोके चेम्पियन हैं, और मध्य देशके राजे-रजवाड़ोंके बीच घोडेकी सवारीमे यकता माने जाते हैं। इसीसे बाबू साहबने रतन-रानीके लिये भी एक सुन्दर, छोटा सा पहाड़ी घोड़ा मँगवा दिया है। सबेरे ही हँटिंग कोट और ब्रिचेसमे लैस 'रतन-राजा' को साईस बागके बाहरकी सड़क पर घुड़सवारी सिखाता है।

पहले ही दिनसे एक राज-कन्याके नाजोंमें रतन इस महलमें उछली-पली है। फिर ठीक उस पहले ही दिन वह माँ से छीन कर इस क्रिश्चियन

आया हॅनोलाके सिपुर्द कर दी गई थी। १६ वर्षकी हॅनोला अबसे बारह-तेरह वर्ष पहले निर्दोष आँखें, और भोली-सी सूरत लेकर पहलेवाली सेठानीजीकी डिलिवरीके मौके पर नर्स बन कर आई थी। इस महलकी मुरावलियोंमें उन भोली आँखोंके हिरन भटक गये—मुक्त वन-चारी उपवनमें ही रम गये। हॅनोला बाबू साहबकी इस विलासकी प्रयोग-शालाकी एक साइन्टिफिक रक्षिका और शिक्षिका हो रही। रतनकी परवरिशका जिम्मा उसीको सौंपा गया था। उसकी शिक्षा-दीक्षा और सस्कारकी विधाता भी वही थी। हॅनोला अपनी सारी बुद्धि, अनुभव और चतुराई खर्च कर रतनको अपनी सुर लिपियाँ सिखानेकी कोशिश करती। पर वह देखती कि इस बालाका चित्त जाने कहाँ भटका है। रतनको गोदमें बैठा कर जब वह सबसे मार्मिक सबक उसे सिखा रही होती, तभी वह लडकी बागकी डालोपर किलकती अथवा आसमानमे उड़ती चिडियाओके साथ खेलनेको दौड़ पडती। हॅनोला अपनी कोशिशमें हारती नहीं थी, पर यह लड़की भी एक अजीब गिलहरी थी कि हाथ ही नहीं आती थी। उसके चित्तके भीतर जो एक अनजान प्रश्न दिन-रात खटकता रहता था, उसीकी वेदना उसके जीको यों स्वच्छन्द उड़ाये फिरती थी।

पर अपार सुख-ऐश्वर्यके बीच पली इस पन्द्रह वर्षकी किशोरीमें अब एक अज्ञान-यौवनाकी मचलन दिखाई देने लगी थी। स्निग्ध अवयवोंकी गोल सुरावटमें एक अद्‌भुत आकर्षण हिलोरें ले रहा था। स्पर्शका रस जैसे उच्छल होकर बोल उठता था। उस चितवनके सहज उठने और गिरने मात्रसे वातावरणमें आमन्त्रणके भँवर पडते थे।

.. इधर एक हफ्ते भरसे रतनमे एक परिवर्तन-सा दिखाई पडने लगा है। जेस्मिन-क्लबसे शामको जब लौटती है, तो माँकी नजरोंसे वह बचना चाहती है। तोहफोंको लेजाकर माँको दिखानेकी बात दूर, अब उसे उसकी सुध ही नहीं रहती है। मोटरसे उतरकर वह दबे पाँव सीधी अपने कमरेमें चली आती है। नौकर सामान उतार कर उसके कमरेमें डाल आता है। पर

सुन्दर सतर्क निगाहसे बाट जोहती बैठी रहती है। जब पाती है कि रतन गायब हो गई है तो एकाएक उसके कमरेमें आप ही जा पहुँचती है। माँको सामने पाकर, रतन डरी सी, चौकी सी उठ खड़ी होती है। रुख बचा कर किसी बहाने वह इधर-उधर होनेकी कोशिश करती है। इधर वह अक्सर पजाबी पोशाकमे ही दिखाई पडती है। एक दिन उसने माँको यह भी बताया था कि उसके बाबू साहबको यही पोशाक सबसे ज्यादा पसद है। माँको सामने पाकर वह डुपट्टा सिर पर ओढ लेती है और मुँहको कुछ ढाँक सा लेती है। पर माँकी सूक्ष्म दृष्टिसे वह चेहरा बच नही पाता है। सुन्दर पाती है कि उस मुखडेमे एक कसूमल सी आभा फूटी पड़ रही है। गालोंमें एक अस्वाभाविक सुर्खीके दागसे दिखाई पड़ जाते हैं। उस बालाकी उस सदाकी निर्दोष चितवनमे एक घायल हिरनी जैसे ठिठकी-सी दिखाई पड जाती । पर उसे स्वयम् ही अपनी स्थितिका भान नहीं है। उसे नहीं मालूम है कि किस स्थलपर उसे आघात लगा है—पर चोटखाई सी नजरसे वह माँकी ओर देखती रह जाती है। उन आँखोमे एक प्रश्न सुलग उठता है। वह बेबूझ सी ताकती रह जाती है। नैपथ्यमें व्याधका पदाघात सुन कर जैसे हिरनी चौकन्नी हो गई है, इसी बीच कब तीर आकर उसे कहाँ लग गया है सो उसे नहीं मालूम है। सुन्दर बिना बोले ही अन्ध वात्सल्यसे विह्वल हो, बेटीके उस मुखको छातीमें भर लेती है, पर उघाड़ कर उस मुँहको देखनेका साहस उसमे नहीं है और न उसका बोल ही फूट पाता है। अपने ही कलेजेके इस टुकड़ेके सम्मुख उसका अपना बोल अपराधी हो उठा है। नहीं सूझ पड़ता है—क्या पूछे। शब्दमें शक्ति नहीं है कि उसकी वेदनाको अपने तक ला सके।

× × × ×

वह भयानक आँधी मेहकी रात थी। बादलोंकी गर्जन और बिजलीकी कड़कड़ाहटसे हृदय सहम उठता था। अन्धकार और वृष्टि-धाराओंमें सब कुछ असूझ हो गया था। पर सुन्दर शामसे जो फाटककी ओर प्रतीक्षाकी

नज़र गड़ाये अपने झरोखे पर खड़ी थी, सो अभी तक डिगी नहीं थी। रतन आज दोपहरसे जैस्मिन क्लब गई थी, तो अभी तक लौट कर नहीं आई थी। इस बीच उसने चार-पाँच बार आया और नौकराइनको भेजकर टेलीफ़ोन भी करवाये, पर कोई जवाब नहीं मिला। दर्बान और दूसरे नौकरोंको जेस्मिन-क्लब जाकर पता लगानेके लिए कहा तो उत्तर मिला कि बाबू साहबकी इजाज़त के बिना उन्हें वहाँ जानेकी सख्त मुमानियत है।

विलासिनीके चोलेसे ऊपर उठकर निरी मानवी माँ उस खिड़की पर अचल खड़ी थी। पगलाई-सी आँखोसे वह उस आँधी, पानी, गर्जन-मेह और अंधेरेमें अपनी बिछुड़ी बेटीको खोजती हुई भटक रही थी।

एकाएक उसे एक जोरका चक्कर आया और वह अचानक फर्श पर आ गिरी। उसका जी उड़ा-उड़ा जा रहा था। अपनी वस्तु-स्थिति और देहका भान उसे नहीं रह गया था। जाने कब वह एक अधीर उद्वेगसे उठ बैठी। इस बरामदेसे उस कमरेमे, और उस कमरेसे इस दीवान-ख़ानेमे वह चक्कर काटने लगी। बाहर जानेको वह रास्ता पाना चाहती थी, पर वह उसे मिल रहा था। भीतर उसके अरोक गति थी, पर शरीर और इन्द्रियाँ वशमे नहीं थी। प्रत्येक कमरेकी सारी बत्तियोंको उजालकर वह चारों ओर देखती रह जाती। न जाने कितनी रमणियोंके उद्दाम विलासकी भाव भंगिमाओंके वास्तविक फोटोग्राफ उसे दीवारो पर दिखाई पड़ते। अब तक उस ओर उसने कभी इतनी सतर्कतासे नहीं देखा था, अपनी एक अँडाईमे वह उन सबको डुबा दिया करती थी। आज उसे अनायास लगा कि वे सारी लीलामयी रमणियाँ उसके गर्वकी खिल्ली उड़ा रही हैं। व्यंगको अनेक चीखों और पुकारोका एक कोरस उसे अपने आस पास सुनाई पड़ रहा है।

ऐसे ही बेसुध भटकते, चक्कर काटते हुए वह जाने कब अपने कमरेमे लौटकर अपनी शैय्या पर आ गिरी थी। सवेरा होते-होते पानी थम गया था, और उस शान्तिमे हारी थकी सुन्दरकी आँख झपक गई थी।

"माँ"

एक बिछुड़नभरा स्वर सुनाई पड़ा। सुन्दर चौंक कर उठ बैठी। सामने

देखा वह मानो आसमानसे गिर पड़ी। क्षणभर जैसे पहचाननेमे देर लगी। एँ, क्या यही है उसकी मासूम बेटी? काले रेशमकी अस्त व्यस्त पंजाबी वेष-भूषा और बिखरे हुए बाल लिये, सहमती-काँपती सी रतन खड़ी थी। मसले हुए कमलके फूल-सा वह मुखड़ा तीव्र ग्लानि, रोष और त्राससे विकृत हो गया था। रतन चीख कर माँ की गोदमें आगिरी और फूट फूट कर रोने लगी। सुन्दरके नीचेकी धरती जैसे खसक गई और माथेपरका आसमान फट पड़ा। उसके हृदयका रक्त मानो जम गया था और उसकी आँखोमें आग दहक उठी थी। कोई प्रश्न उसे नहीं पूछना था, क्योकि उस सबका उत्तर उसकी अपनी ही कायाके रोएँ रोएँसे गूँज उठा था। लगा जैसे सातों नरक उसकी देहमे एक बारगी ही जाग उठे है। इन जलते नरकोंमें वह इस बेटीको कहाँ शरण दे। निर्मम दृष्टिसे वह अचल और पथराई सी देख रही थी। घायल खरगोश सी वह बाला उसकी गोदमें बुरी तरह बिलख रही थी। पर पापिनी छाती और इन बाँहोमे वह उसे आश्वासन दे तो कैसे दे? मॉ की ओर से कोई आश्वासन न पाकर रतन और भी जोरसे चीख उठी—और माँ के गले लिपट कर बिलबिलाने लगी—

" मॉ, . उस कुत्तेने ..उस राक्षसने उसने मुझे मुझे.. मुझे. वह बाप है . ! मेरा बाप वह कुत्ता . वह भेड़िया ..?"

और पछाड़ खाकर रतन धरती पर आ गिरी। अब सुन्दरसे न रहा गया। झपट कर वह पास गई और लड़कीको गोदमे भरकर छातीसे चाँप लिया। एक भयानक खामोशीमे दोनों मॉ बेटी जाने कब तक चुप चाप सुबकती रही। एक–दूसरेकी ओर देखने और बोलनेका साहस उनमें नहीं था। अचानक सुन्दरकी नजर रतनके आँसू-धुले चेहरे पर पड़ी। सुर्ख गालों पर यहाँ वहाँ नीले-नीले दाग पड़े हुए थे। रो रो कर आँखें सूज गई थीं और ओठोंके आस-पास जैसे कुछ वर्म सा आ गया था। तभी उसे लड़कीके चेहरेपर और हाथ पर खूनके कुछ छीटे भी दिखाई पड़े। गलेमे पड़े कपूरी दुपट्टेपर जो गौर किया तो उस पर भी खूनके दाग थे।

"रतन ..यह खून कैसा?..."

'मैने बोतल उठाकर मारी थी उस कुत्तेके कपालमे, यह उसीका खून है। पर उसने न माना.. न माना। जब मैंने सामना किया तो उसने बहुतसी धमकियाँ दी—उसने पिस्तौल दिखाई और मुझपर चढ आया। मेरा वश न चला और, वह सूअर, माँ—वह तुझे सैकड़ों गालियाँ देता जा रहा था और मुझे हाय कैसे कहूँ " और फिर उसने माँ की छातीमें मुँह दुबका लिया।

••

उसी दिन रातको आठ बजे एक मोटर आकर उस महलके पोर्चमें रुकी। दन-दनाते हुए दो एक पुलिस ऑफिसर और दो-तीन कॉस्टेबल सुन्दरके कमरेमें आ पहुँचे। पुलिस इन्स्पेक्टरने वारण्ट पेश किया—

"मशीरबहादुर बाबू नॅदलाल झाँझरियाकी जान लेनेकी साजिश करनेके जुर्ममें सुन्दर बाई और रतन बाईको गिरफ्तार किया जाता है।'

इन्स्पेक्टरके इशारे पर कोठीकी एक नौकरानीने कमरेसे लगे ड्रेसिंग-चेम्बरमे ले जाकर दोनो माँ बेटीकी बढिया पोशाके और ज़ेवर उतार कर उन्हें अपने फटे-मैले कपड़े पहना दिये। रतन सामना करनेको उतावली हुई थी, पर सुन्दरने उसका मुँह पकड़ कर उसके ओठ दाब दिये—और उसके कानमें कुछ कह दिया। बिना किसी प्रतिकारके पत्थरकी मूरतो-सी वे दोनों माँ-बेटी दीन-मलिन वेशमे प्रस्तुत हो गईं।

...अगलेही क्षण मोटर उन्हें लेकर कोठीसे बाहर हो गई।

बाबू साहब कोई मामूली शख्सियत नहीं थे। राजाकी सत्ता भी उनके धनकी सत्ताके अँगूठे-तले दबी हुई थी। रियासत पर उनका तीन करोड़का कर्ज़ था। वे राय-बहादुर थे, मशीर-बहादुर थे और जाने कौन-कौन बहादुर थे! दुनियाकी सारी बहादुरियाँ उनके सोनेके तलवे चाट रही थीं। कॉग्रेसको लाखों रुपयेका चन्दा देकर वे उसे अपनी बना चुके थे, प्रजामण्डलके नेता उनके द्वार पर इन्तज़ार करते थे, बड़े-बड़े देश भक्तोके नेतागीरीके शाही खर्चे बाबू साहबकी 'प्रीवी-पर्स' पर चलते थे। चोटीके राष्ट्रीय अखबार-नवीस बाबू साहबकी मुट्ठीमें थे। अपनी एक बाँकी मदमाती चितवनसे वे दुनियाको

निहाल कर सकते थे, एक सिगरेटका कश खीच कर उसके धूँएमें वे ज़माने-को उड़ा सकते थे। लीला मात्रमें ऐसी कई कलंक कथाएँ इस धरती पर लिख कर उन्होंने मिटा दी थी—फिर सुन्दर और रतन किस खेतकी मूली थी।

इशारा भर करनेकी देर थी कि पुलिस वारएट और जुर्मके बहाने उन दोनों माँ बेटीको पकड़ कर ले गई, और उस आधीरातमें बहुत दूर जाकर राज-मार्गसे परे किसी बयाबानमें छोड़ आई।

* * * *

चारो ओर रात भाँय-भाँय कर रही थी। बनकी उस भयंकर निर्जनतामे बरसों बाद फिर माँ और बेटीका मिलन हुआ। मनुष्यके भीतरकी जिस विभीषिकामेंसे गुजर कर वे आई थी, उसके बाद बाहरकी यह भयानक्ता उन पर कोई प्रभाव ही न डाल सकी। सुन्दरके सामने थी केवल एक चीज बेटीकी चिर दिनकी मूक नालिश। उसका उत्तर देनेको वह बाध्य थी। उसके अपने पापकी हजारो चट्टानी तहोंको चीरती हुई, प्रकाशकी पुत्री सी यह मासूम बाला चली आ रही थी? उसके सारे अग-प्रत्यग रक्तसे लथ-पथ थे और उसकी आँखोमे एक ज्योतिर्मय प्रश्न था। बिना किसी भूमिकाके सुन्दर अपनी कथा कह चली। शिशुकी तरह माँकी छातीसे चिपटी रतन सब सुन रही थी। बातको उसके सारे विषम पहलुओंके साथ उसने न भी समझा हो, पर अनुभूतिमे जैसे उसने सब कुछ गुन लिया, और वह सिसक सिसक कर रोने लगी। उस शून्यमे कलेजेसे कलेजा टकराकर वे दोनों मानवियाँ रो रही थीं, मनुष्यकी बर्बर दुनिया अपने धर्म, शील, नीति और सदाचार के छल-छन्दोंको लेकर आज उनके बीच नहीं थी।

सवेरा होने पर वे निर्लक्ष्य चल पड़ी। राहमें सबसे पहले जो गाँव मिला, वहीं जाकर उन्होंने विश्राम लिया। सुन्दरने मन ही मन निश्चय किया कि यहीं किसी मजूरीका आसरा लेकर वे घर बसा लेंगी और सुखसे रहेंगी। उसी दिन एक काश्तकारके खलिहानमें उन्हें काम मिल गया और रहनेको एक झोंपड़ी भी।

जैसे तैसे तीन चार महीने बीत चले। इस बीच रतनके स्वभावमे एक अस्वाभाविक गम्भीरता आ गई थी। बाहरके जीवनकी अचानक आनेवाली कठोरतासे अभ्यस्त होनेमें उसे देर लग रही थी। भीतर उसके एक बेबूझ हल-चल थी, जिसे न तो वह समझ ही पाती थी, न मुँहसे कह पाती थी। दिन-दिन एक अतल विषादमे वह उतराती जा रही थी। माँसे वह भरसक दूर ही रहती, और दूर ही रहकर काम भी करती। सुन्दरको साहस नहीं होता था कि बेटीके एकान्तमें वह प्रवेश करे। कभी किसी दोपहरीकी भयानक स्तब्धतामे रतन कहीं झाड़के नीचे बैठी अकेली रोती दिखाई पड़ जाती, सुन्दर मुँह फेरकर निकल जाती और अपनेको बाहरके काममें व्यस्त कर देना चाहती।

इधर कुछ दिनोंसे रतन बहुत रुग्ण भी रहने लगी थी। चेहरा उसका कुम्हलाकर पतझड़के पत्ते सा हो गया था। अन्नसे उसे अरुचि हो गई थी, और माँके जबरदस्ती करनेपर खा भी लेती तो तुरन्त कै हो जाती। ऊपरके उपचार भी किये, पर लाभ नहीं हुआ।

सुन्दर एक अज्ञात सन्देहसे सिहर उठी। एक दिन एकान्तमे अवसर पाकर उसने रतनसे एक प्रश्न किया, जिसका उत्तर 'हूँ'कारमें देकर लड़की वहाँसे भाग गई। बेटी कब वयवती हो गई थी, इसका पता नीलम बागकी आयाको इस माँसे अधिक था। सन्देहके लिये अब अवकाश नहीं था।

क्षितिजकी ओर करुण दृष्टि थामे, सुन्दरने लड़कीके सुखद भविष्यकी कल्पना करनी चाही, विवाह .? और छातीमें एक धमाकासा हुआ। जेठजीका भूत किलकारी कर उठा। बड़ी-बड़ी पगड़ियोंवाले समाजके धनी-धोरी जैसे उसके कपालमे ठोकर मार-मारकर उसकी आँखोंके सामनेसे गुजर गये। ...उसका धर्म नहीं, जात-बिरादरी नहीं, वह पुंश्चली और परित्यक्ता माँकी बेटी है। मनुष्यकी जगतीमें उसका कोई वैधानिक बाप नहीं—वह तो पशुकी पुत्री है, भूतकी जाया है। और फिर स्वयं स्खलिता, पतिता...। फिर गर्भपातसे लाभ ?...पर उस दानवका गर्भ धारण करेगी उसकी यह कलेजेकी कोर, नहीं—हर्गिज़ नहीं...।

अनेक गुप्त उपायोंके उपरान्त गर्भ-पात करवा दिया गया। कुछ दिन और रुग्ण रहनेके बाद, गाँवके मुक्त जल-वायुमें रतन स्वस्थ हो चली। सुन्दरके लाख उपायोंके बावजूद जो भी लड़कीका मन सुखी नहीं रह पाता था, पर शरीरसे वह किसी कदर भली चंगी हो चली थी। रूपकी रेखाएँ फिर वय सुलभ लावण्यसे भर उठीं। बरसो वैभवकी गोद-पली कायाका लोच, कटारकी धारकेसे निष्ठुर आकर्षणसे लहक उठा।

गाँवके जागीरदारके बड़े कुँवर दिनोसे उसे देखकर दीवाने हो रहे थे। उनकी हर घातसे रतनने अपनेको चुपचाप बचा लिया था, पर माँसे उसने जिक्र नहीं किया था, इसीलिये कि उसे दुःख होगा। पर उस दिन मारमें वह कण्डे बीनने गई थी। साथिनें सब बिछुड़ गई थीं। साँझको अबेर हुए घबड़ाई-सी वह लौट रही थी। रास्ता सुन-सान था। एकाएक अकेले कुँवरने आकर उसकी राह रोक ली। भागनेकी राह खोजे, उसके पहले ही वह पकड़ ली गई। क्षण मात्रमें रतन जैसे शेरनी हो उठी। वासनाकी विह्वल घिघियाहटसे कुँवर नरव्हम हो गये। उनका अंग अंग काँप रहा था। वे चिड़िया के शिकारसे लौट रहे थे। उनके कंधेपर एक छोटी-सी रायफल थी। कुँवरको होश नहीं था। रतनने एक हाथसे रायफल खींच कर उसका कुन्दा कुँवरकी छातीमें दे मारा। कुँवर चीखकर धरतीपर ढेर हो गये।

अँधेरा हो चला था। रतन बेतहाशा भागती हुई अपने झोपड़ेपर पहुँची और बेदम होकर आँगनमें गिर पड़ी। धमाका सुन कर सुन्दर रोटी बनाती-बनाती बाहर दौड़ी। घबड़ाई हुई वह लड़कीके पास आई। कुछ दम लेकर रतनने उतावले रुदनके स्वरमें सारी घटना कह सुनाई। सुन्दरके होश उड़ गये। उसे स्पष्ट प्रतीत हुआ कि एक मिनिट भी अब वे यहाँ ठहरीं तो जान की खैर नहीं। जलता चूल्हा, अधूरी रसोई, और घर जहाँका तहाँ छोड़ा। जल्दी-जल्दी दो चार बर्तन-ठीकरे और अलगनीपर लटके कपड़े एक बोरियेमें बाँधकर और लड़कीको लेकर वह दबे पैरों आड़े रास्ते निकल पड़ी। झाड़ी-झंखाड़, पत्थर-ढूहमें टकराती, ठोखरें खाती वे दोनो लहु-लुहान पैरों चलती चली जारही थीं। दो-तीन घंटे भटकनेके उपरान्त भाग्यसे उन्हें एक

कच्ची सड़क मिल गई। चडड-चूँ करती एक बैलगाड़ी जा रही थी और उसपर एक लालटेन टॅगी थी।

सुन्दरके विनती करनेपर ग्रामीणोने उन दोनोंको गाडीपर बैठा लिया। वहाँसे तीन मील दूर एक रेल्वे स्टेशनपर वे जा रहे थे। सुन्दर आश्वस्त हो गई।

स्टेशनपर गाड़ी रातके अन्तिम प्रहरमे आती थी। अभी दो घण्टे उन्हे वहाँ काटने थे। गाड़ी तो आयेगी और अपनी राह अपनी पटरियोपर जायेगी भी, पर सुन्दर और रतनको कहॉ जाना होगा? प्रश्न बिजली-सा कौध उठा। सामने एक अभेद्य विभीषिकाके अतिरिक्त और कुछ नहीं था। फिर बरसों पहलेका वह मथनका दुश्चक्र उसके सामने घूम गया। अन्तर इतना ही था कि इस बार उस पापके दुश्चक्रके केन्द्रमेमे मॉके स्थानपर बेटी थी, मॉ तो केवल उस चक्रको घुमा रही थी। पुण्यकी परम्परा टूट जाये तो टूट जाये, पर पापकी परम्परा मौतके भी आर पार होकर जीती चली चलती है।

सुन्दरको स्पष्ट प्रतीत हुआ कि समाजके नरकको छोड, मनुष्यकी धरतीपर जीनेके लिए उन्हे स्थान और कहीं नहीं है। ईमानदारीसे श्रम करके नेकीकी और सुखकी जिन्दगी बसर करनेका मनुष्यका मौलिक अधिकार उनसे सदाके लिये छिन गया है। मनुष्य उन्हे अपनायेगा नहीं, पर खायेगा अवश्य। जिस कायाके आकर्षणके कारण वे अबला रहकर खायी जायेंगी, उसीको अपना बल बनाकर वे क्यों न खुल्लम-खुल्ला मनुष्यको खाये? सुन्दर के भीतर विपथगा हुकार उठी! मायाको फिर अपने मोहन-साम्राज्यकी सत्ता याद आ गयी, उसने अपनी परम्पराकी शृखलाको जोड़ दिया अगली कड़ी थी रतन

...बरसोकी दूरी आँखों आगेसे सरक गई। सुन्दरको '..नगर' की वह राजा मोतीचॅदकी चाल याद आ गई—जहॉ पहली बार उसे अपनी सत्ताका भान हुआ था। उसके भीतरकी प्रतिहिंसा सत्यानाशकी आग-सी धाँय-धाँय धधक उठी। हाँ, पिछली बार वह चूक गई थी, उसने जौहरी बाजारके दौलत-जादेको अपने अनजानमें सीनेका अमृत पिला दिया था। इस बार

वह विष-कुम्भ उड़ेलेगी और हो सका तो हवेलियोंकी उन लजीली और लचीली अन्त पुरिकाओको जीवनके इस बुनियादी नरकमें खीच लाकर, यह 'स्वर्ग' और 'नरक' का भेद सदाके लिये मिटा देगी

.. सुन्दरने तुरन्त ' नगर' के टिकट कटवा लिये।

*   *   *

पलक मारतेमे पॉच बरस निकल गये! इस बीच सुन्दरकी बहु-रूपिणी विद्याने अपनी चरम सार्थकता प्राप्त कर ली थी। वह कब सुन्दरसे चम्पा हो गई थी, इसका भेद लोक-दृष्टिकी पकड़मे न आ सका था। चम्पा नाइनके नामको केन्द्र बनाकर नगरमे तरह तरहकी रसभरी और रहस्यभरी कथाएँ प्रचलित थी। वह अनेक विद्याओंकी स्वामिनी मानी जाती थी। यह उसीकी विद्याका चमत्कार था कि बड़े-बडे घरोंकी नि सतान कुलवतियोंकी गोद भर गई थी, प्रतिष्ठित वशोको कुल-धर प्राप्त हो गये थे। गीत गानेमे उसकी जोड़ नहीं थी। हवेलियोमे शादी ब्याह, 'आना-अघरनी', तीज-त्योहार या और कोई भी खुशीका मौका हो तो गीत गानेके लिये चम्पा नाइनकी पुकार होती। अधेड़ चम्पा जब सुरीले और मदभरे कण्ठसे गीत उगेरती तो सेठानियाँ मतवाली होकर झूमती हुई उसका साथ देती, और कई 'साहेबा' अपनी प्रतिष्ठाका भान भूल कर बौरायेसे रह जाते। और कभी छठे छमाहे रतन अगर उसके साथ पहुँच गई, तो हवेलियोंके झरोखोंमें कोयलें 'टहुक' उठती थी। पर चम्पा रतनको आसानीसे दूर कहीं नहीं ले जाती थी। कहती कि 'बहूको उसके अदब-कायदेमे रहना चाहिये, बेटा परदेस रहता है, अभी नई उमर है और इस कलजुगमे सगे बापका भी विश्वास नहीं किया जा सकता।' चोटीके दो-चार बड़े घरोनें रतन-बहू बहुत ही मान-मरतबेसे आती-जाती थी। उसकी लाज शरम, लचक-मचक और रहन सहनके ठसकेको देख हवेलियोंकी बहू-बेटियाँ भी उसकी ईर्ष्या करतीं और बात-बातमें उसका अनुकरण करती। मेहँदी माण्डनेके शिल्पमें भी चम्पा नाइनकी निपुणता दूर-दूर तक जानी-मानी हो गई थी। उसके हाथकी गोटेकी कौंचली यदि कोई सेठानी पा जाती तो निहाल हो जाती।

गरज यह कि प्रसवके कौशलसे लगाकर शादी-ब्याह, स्नान-प्रसाधन, शैया-सिंगार और सन्तान-दान तककी सारी क्रियाओ पर चम्पा नाइनका असाधारण अधिकार था। बडे बड़े मुत्सद्दी कामदारो और सेठ-साहुकारोंके अन्त पुरोकी रीत-रिवाज उसके हाथों ही सॅवरती-बिगड़ती थी।

कहना अनावश्यक होगा कि जौहरी-बाजारकी हवेलियोके पिछले दरवाजोकी कुजी आज चम्पा नाइनके हाथमे थी। सौरभ-शय्याओं पर सोनेवाली स्वर्गकी देवागनाएँ, नरककी कटीली शैयाओं पर सोकर अपने जन्म सार्थक कर गई थी। जीवनके अन्तर-प्रदेशमे 'स्वर्ग' और 'नरक' का भेद मिट गया था। जौहरी बाजार और उस गलीके बीच, खण्डहर हाल पडे हुए उस बीरान नोहरेकी पक्की दीवारोमें पड़े हुए 'भक्काले' उस निर्बाधताकी साक्षी दे रहे थे!

* * * *

सवेरे जब उठा तो गई रात सखिया खानेवाली उस अनजान लड़कीका जिम्मा मैंने अपने ऊपर पाया। अनायास चिन्ता हो आई, कि जाकर एक बार खबर लेनी होगी। अगले ही क्षण मै सतर्क हो गया और अपने ही आपसे मुझे लाज आ गई। ऐसा किस दिनका उसका दायित्व मुझ पर है, जो खबर लेनी ही होगी? जाने कितनी न ऐसी लड़कियाँ इस दुनियामे रोज जहर खाती होगी या आत्म घात करती होगी। मैं किस-किसकी खबर लेता फिरूँगा? .पर मरनेसे किसीको बचानेकी भूल यदि अनजानमे हो ही गई है, तो उसकी खबर लिये बिना कैसे निस्तार है?...जानेसे पहले अपने को खूब ही समेट लिया था, खूब ही निर्मम और कठोर मैंने बना लिया था। निष्ठुर नैतिक कर्त्तव्य सामने है कि जो टालना अमानुषिक होगा—और मैं जा रहा हूँ। और कुछ नहीं है—और कोई बाध्यता नहीं है। मेरा तर्क अचूक था। पर रातकी वे आँखें-और वे आँसू ?

सामने रक्खी चाय पीकर ओवर-कोट कन्धे पर डाला और सिगरेट सुलगाते हुए चलनेको प्रस्तुत हुआ। अचानक खिड़कीमें नजर अटक गई। सवेरेके सुनील आकाशमे एक सफेद बादल खण्ड दिखाई पड़ा। किसी बाला

का ठगासा भोलापन ही मानो इस अथाह शून्यमे भटक गया है ! और क्या आज तक मै उसकी उपेक्षा ही करता गया हूँ ? एक गम्भीर अपराधसे मेरा सारा अन्तर सिहर उठा।

इसी नगरमे पलकर छोटेसे बडा हुआ हूँ। छुटपनसे ही इस गलीकी राह मे जाता-आता रहा हूँ। मार्केटकी हमारी दूकान पर जानेके लिये इसी गलीमे होकर शॉर्ट कट पडता था। बचप मे अक्सर बापूजी के साथ और बड़े होने पर वक्त बेवक्त अकेले इस गलीसे गुजरनेका अभ्यास मुझे रहा है। इस बीच मेरे युवा होने तक कितनी घटनाएँ और कितने परिवर्तन इस गली में हुए होगे, उसका ब्योरा मेरे पास नहीं है। हाँ, इतना निश्चित रूपसे याद है कि सिरेकी कोठरी के उस मानव प्रेत को मै चिर दिनसे देखता आ रहा हूँ। उसकी अवस्थामे उत्तरोत्तर होनेवाले परिवर्तनोका भी कोई अनुमान मुझे नहीं था। हाँ, उसकी भयानकता सदासे हृदयको कचोट देती रही है। अबोध उम्रसे ही उसे देखकर मुझे रोग, बुढापे और मौतका ख्याल सताने लगा था। उसकी अनिवार्यताको एक टीसके साथ मै अनुभव करता—और उसके निवारणके उपाय मैं मन ही मन सोचा करता। जब कोई उपाय मुझे न सूझता, तो मै अपने एकान्तमे रो पडता। अपने प्यारे माँ बापकी भावी मौतका ख्याल मुझे खाने लगता, और फिर अपनी भी तो वही गति होगी ?! मैं सिहर उठता। मेरे अस्तित्वकी बुनियादे हिल उठती। पर ज्यो ज्यो समझदार होता गया, शिक्षित होता गया, उस ओरसे मेरा ध्यान हटता गया। नई-नई आशाओं और उमगो से मै भर उठा था। मेरी ज्ञान गरिमा और महत्वाकाक्षाओं की ओट वह मानव-प्रेत एक ओर उपेक्षित सा हो पड़ा था। आज भी जब उस राह गुजरता हूँ और अपनी सर्वग्रासिनी दृष्टिसे जब वह मुझे घूरता है, तो एक बार मै अवश्य सिहर उठता हूँ। पर अगले ही क्षण किसी दिल-कश मुखडे की याद कर मै उसे भुला देना चाहता हूँ।

और तभी आगे बढ़ने पर अनायास उस गमलेवाली खिड़की पर नजर पड़ जाती। वही चम्पक गौर मुखड़ा, बड़ी सी बिंदिया, हल्दी रंजित भौंहका वह कमनीय मोड़, बड़ी-बड़ी पलकोंकी ओटसे वह सम्मोहनकी चोट।

जन्मान्तरोंकी सुधियाँ जैसे जाग उठती। वह हठीली नज़र मानों राह रोक लेती। मैं सकोचमें पड़ जाता, मेरी आँखे ढुलक पड़ती। मेरी झुकी आँखोंमें मुझे वे आँखें तैरती नज़र आती। मन ही मन मुझे अनुभव होता कि वह नजर राहमें बिछी है, उस पर पैर धर कर मैं कैसे जा सकूँगा? मैं लाजके मारे मर जाता, ठिठका रह जाता। आँखे उठाकर देखनेका साहस मुझे न होता।

...मै अपने ज्ञान-विज्ञान और फिलॉसफी की गरिमाका भान मनमें लाता। अपने पुरुषार्थ के गर्वको भौहोंमे भर कर आँखे उठाता—कि कौन है, जो मुझे चोट दे सकता है, मेरी राह रोक सकता है ? आँखें उठाने पर पाता कि वह चोटभरा कटाक्ष वहाँ नहीं है, उस चितवनमे एक कुमारिका का सरल आत्म-निवेदन तैर आया है! सहज लाजसे भरा एक विनम्र समर्पण और एक भोलीसी बिनती उन नयनोमे थमी है। साथ ही यह बेबस प्रश्न भी क्या नहीं है—'इधर देखो न, क्या देखनेमे भी पाप लग जायगा? तो चले ही जाओगे? अच्छा, मै कौन होती हूँ तुम्हे रोकने वाली? जाओ न—? और रूठासा वह मुखड़ा कन्धे पर ढुलक जाता। उस राह पर आगे बढनेका साहस मेरा न होता, मैं किसी राह चलते आदमीसे बात करनेका बहाना करता और लौट पडता. ।

अपनी असामर्थ्यको मै जानता था। मैं क्या कह कर उसे समझाता—और कैसे उस तक जानेकी हिम्मत भी करता? कैसे उसे जताता कि इस झाड़ का घोंसला खाली पडा है, और पछी कबका उड गया है। जाने दीजिये, बात बढ रही है। वह मेरी बात है—और उसे कहनेका प्रयोजन यहाँ नहीं है। जो भी हो, वह मेरी विवशता थी। उसे देने को मेरे पास कुछ भी शेष नहीं रह गया था। ऐसा कुछ भी मेरे पास नहीं था, जो मेरा अपना हो। मैंने हृदयके द्वार पर पाषाण के किवाड़ लगा लिये और उस राह जाना-आनाही बद कर दिया।

बातको करीब-करीब भुलावेमें डाल ही चुका था कि डाकसे एक छोटा-सा पत्र मिला लिखा था—

'.. ठुकराने लायक़ भी मुझे नहीं समझा! चरण की धूल बना जाते, तब भी जी उठती। पर इस राह पैर धरनेमे ही पाप लगा? जैसी इच्छा, मेरा तुम पर क्या दावा है! .'

पाषाणके किंवाड चूर चूर हो गये। हृदयके भीतरकी भेदकी दीवार टूट गई। पुरुषार्थ और ज्ञानका गर्व धूलमे लोटता नजर आया। अपराधके गुरु बोझसे मैं धरतीमें गड़ा जा रहा था, उसके सामने जाना मेरे लिए और भी भारी हो गया। मे मन मसोसकर रह गया ..। मैने तर्क किया—और फिर ज्ञानकी दींवारे अपने आस पास बना लीं।

...उस दिन उस मझ रातकी निस्तब्धतामें मै अपनेको अपनी ही दृष्टि से बचाकर, चोरी-चोरी उस राह निकल आया था। चारों ओर एक खतरे और आतकका अनुभव हो रहा था। मन धुक-धुक कर रहा था। सास रुक रही थी कि कब यहॉसे निकल जाऊँ। तभी—ठीक तभी सीढीमेंसे बुढियाने मुझे पुकारा

फिर जो हुआ वह बता ही चुका हूॅ। तब मैं अपना स्वामी नहीं रह गया था। वज्रका हृदय बनाकर मै मौतसे लड़ा और उस अनजान लड़कीको उसकी कराल डाढसे खीच लाया। मै घर लौटकर और ज्यो ही विस्तरेमे पड़ा कि भावनाओं और विचारोंका एक अन्धड़ सा मेरे भीतर उठने लगा। अत्यन्त कठोर मनसे उसे मैने ठेल दिया, और शून्य, स्वस्थ मन लेकर सो गया। मौत पर जय पानेकी खुशी जो मेरे मनमे थी। सवेरे उठकर, इस तैयार होनेकी घड़ी तक एक निर्मम कर्तव्य चिन्ताके अतिरिक्त और किसी भावको मैने मन पर न आने दिया था। पर ठीक चलनेको प्रस्तुत था कि इस आसमानने मुझे टोंक दिया—और यह बादलका टुकड़ा..? इस अनाविल अन्तरिक्षके अतलसे जैसे यह अभियोग उमड़ा आ रहा है! और उस कुमारिकाका वह इसी अनाविल आकाश सा, अकलक हृदय मुझे याद आ गया, जो उन ऑंखोंमें कितनी ही बार तै आया था...

नहीं समझ आ रहा था, कौन सा मुॅह लेकर उसके सामने जाऊँगा! अपना वश मै हार चुका था—और यत्रवत् उस गलीकी ओर बढा जा रहा। था

सीढ़ी चढ़कर मैंने द्वार खट-खटाया। दो एक मिनटमे किंवाड़ खुले। सहमी-सी चम्पा सामने पड़ी। तुरत सम्हलकर उसने मुह मलकाते हुए स्वागत किया—

"पधारो बापू सा'ब, पधारो," कहकर पास ही के एक दूसरे दरवाजेकी चिक उठाकर वह मुझे अदरके कमरेमें ले गई। बाहरके कमरेसे गुजरते हुए मैंने देख लिया था, सामनेके पलॅग पर 'वह' मुह फेर कर सोई हुई थी।

"बिराजो" कहकर चम्पाने कोनेमें बिछे एक चमकीले पायों वाले पलँग की ओर सकेत किया, जिसपर गहरे बेल बूटोका एक चित्तौड़ी चादरा बिछा हुआ था। पायतानेकी ओर एक हुक्का पड़ा था। कोनेकी एक अलगनी पर कुछ बढिया ज़नानी पोशाके लटकी थी। एक बार पलगकी ओर बढकर मैं झिझका, फिर फर्श पर बिछी जाजिम पर जाकर बैठ गया। चतुर चम्पा समझ गई, उसने आग्रह नहीं किया। पल्लेको सम्हालती हुई वह भी सामने बैठ गई और दूसरी ओर देखती हुई बोली—

"बडे भाग जो आप इधर आ निकले।...नहीं तो आधी रातमे किससे जाकर कहती। और बेटा तुम्हे छोड़ किसके आगे अपनी लाज उघाड़ती। ...करम ही जो फूट गये थे। तुमसे क्या छिपा है ? भगवानने लाज रखली जो ऐन घडी तुम्हे भेज दिया।...जुग-जुग जियो बेटा. ." कहते कहते उसका स्वर जैसे रुँध आया। दूसरी ओर मुँह फेरकर उसने पल्लेसे आँखें पोंछली।

"घी सब पिला दिया था न ..?"

"हाँ, बेटा, तभी उसे साता पड़ी। अभी तक तो सोने नहीं दिया था। अब वह मजेमें थी, इसीसे सो जाने दिया है" कहकर चम्पा चुप हो गई और नखसे धरती खुरचने लगी। थोड़ी देर रहकर फिर वह बोली—

" बापू सा'ब उसके और आपके बीचकी बात तो आप जानें और वह जाने। पर मुझसे भारी भूल हो गई है, उसीकी माफीकी अरज आपसे है। यह तो भला भाग जो आप ठीक बखत पर भगवानके भेजे ही आ गये, नहीं तो मैंने तो लड़कीके प्राण ले ही लिये थे। .."

'सो कैसे, जरा सुनूँ" मेरी जिज्ञासा दोहरी हो गई ।

" मुँह खोलकर अपनी लाचारी किससे कह सकती हूँ, बेटा, पर तुम क्या नहीं जानते होगे...? इधर कई दिनोंसे रतन सब काम धंधेको तिलाजली दिये थी, न खाना-पीना, न पहनना-ओढना, और न कोई बात-विचार। जहाँ बैठी होती, वहीं दिन-दिन भर गुम-सुम बैठी रहती । नहाना-धोना, माथा छोटी सब कुछ बिसार दिया था । . पूछती कि ऐसा क्या दु ख है तुझे, तो कोई जवाब ही न देती । ..आप तो जानते ही हैं, बापू, हमारे तो पेटका एक ही आसरा है—सेवा-चाकरी । ..काम-धंधा सब चौपट होने लगा । हवेलियों में मेरे लिये मुँह दिखाना मुश्किल हो गया । तब एक दिन इसने बड़ी मुश्किल से आपका नाम और शक्ल-सूरतका अन्दाज बताया । मैं क्या जानूँ कि सँघवियोके छोटे कुँवर बापू मोहन सिह आप ही हैं । आपकी यह रेजीकी पोशाक तो आपके सारे घरसे निराली है । आपको देखकर कौन कह सकता है कि आप ही सघवियोके छोटे कुँवर है ? वैसे मै हवेलीमें गई ही नहीं हूँ, सो बात तो नही है । इसीमें चूक हो गई मुझसे । मैंने लड़कीको बार-बार डाँटा-फटकारा, एकाध बार पीटा भी । पर वह अपनी हठ पर डटी थी और दिन-दिन सूखती जा रही थी । . कल दीवान सा'बके बड़े कुँवरजीका आदमी शाम पड़े आया था—कह गया कि कुँवरजीने हाँ...नहीं बहूजीने रतनको याद किया है । मैंने कहा—रतनी, नहा धोकर कपड़े बदल ले और दीवान सा'बकी हवेलीमें चली जा । मेरे लाख कहने पर भी वह नहीं उठी । गोद में उल्टा कॉच धरे कागज पर वह जाने क्या लिख रही थी । जब उसने मेरी एक न सुनी तो मैं आपेके बाहर हो गई । मैंने एक लात मारकर, वह कागज उससे छीन लिया । वह बहुत रोई चिल्लाई, छीना, झपटीकी—मैने एक न सुनी । अगले कमरेमें उसे मूँदकर, मै डागले पर रोटी बनाने चली गई । आकुलतामेमें वह कागज देखना भूल गई । मेरी तो मति ही गुम हो गई थी ।...घर मे मैं कब कहाँसे सखिया आगया, मुझे नहीं मालूम । कब और क्यों उसने यह नये कपड़ोंका सिंगार किया था, सो भी नहीं मालूम । दरवाजेका ताला मैंने खोल दिया था—और जल्दी ही जाकर सो गई थी । रातमें एकाएक चिल्लाहट

सुनाई पड़ी। आकर देखा, तो करम फूट चुके थे!..." भर आई छातीको थामनेके लिये चम्पा कुछ रुक गई। फिर कण्ठका परिष्कार कर बोली—

"..मौतकी घड़ी आ पहुँची जानकर वह मेरी गोदमे बिलख पड़ी और बोली—'बैरन बनकर तेरे पेटे आई थी माँ, कसूर माफ कर देना। बिछुड़नेकी घडी आ गई है, अब तुझसे छुपाऊँगी नहीं।—मैंने नीचे पड़ौसीके लड़केको भेज कर उन्हें बुलाया था—पर वे नहीं आये। कभी भूले-भटके आ निकलें तो रोक कर कह देना—कि अभागन तुम्हारे हाथों मौत पाना चाहती थी—तुम्हारे हाथों जहर पीना चाहती थी—वह भी तुम्हें मजूर नही हुआ। मेरे ऐसे भाग कहाँ—इसीसे खुद ही पी लिया है—' बस, फिर तो उसकी वेदनाका पार नही था। हूलरे-सी लोट रही थी। तभी तुम इधर निकल आये।...देवता हो तुम, मेरे बेटा, पर हाय, मै तुम्हे पहचान न सकी " कहकर वह अपनी ही जगहसे पल्ला पसार कर मेरे वारने लेने लगी। उस समय मेरे मनकी क्या दशा थी, वह कह कर नही जता सकूँगा।

"...यह है वह चिट्ठी—" कहकर चम्पाने चिट्ठी अपनी काँचलीमेंसे निकालकर मेरे हाथमें थमा दी। लिखा था—

'..नही सोचा था कि ऐसी कोमल सूरतके भीतर ऐसा कठोर दिल भी छुपा होगा। तुम्हें देखनेके बादसे यह नरक झेलना मेरे लिये मुश्किल हो गया है। पर तुमने तो मुँह फेरकर भी नही देखा। फिर भी विश्वास नहीं होता है कि तुम इतने निठुर हो सकते हो। इसीसे मेरे राजा, आज तुम्हें हुक्म देना चाहती हूं कि तुम आओ—और मुझे भरोसा है कि तुम आये बिना रह नही सकोगे? आजकी रात तुम्हारे हाथो मौत पाना चाहती हूँ। अगर नही आये तो कल सवेरे अपनी हवेलीके द्वारपर यह लाश पडी पाओगे। और यह न समझना—"

.. उस भयानक मौतकी घडीका वह सिंगार मुझे याद आ गया! 'यह सदा क्वाँरी है—कि सदा दुलहिन-?' मेरे मनमें कसकते प्रश्नका उत्तर आज मिल गया। क्या इसी घडीके लिये वह अभिसार चल रहा था ? इस लड़कीको

लेकर सारे जगत और समाजके प्रति जो विद्रोह मेरे मनमें उठ रहा था, मैंने पाया कि अरे, उसका सबसे बड़ा अपराधी और अभियुक्त तो मैं स्वयम् ही हूँ। किसके आगे इसका प्रायश्चित्त करूँगा, कौन देगा मुझे इस अपराधकी सज़ा ? मेरी जिज्ञासा अब असह्य हो उठी थी। पूछ बैठा—

"माँजी, ऐसी भी क्या लाचारी है कि लड़कीके लिये अपने मनका जीना मुश्किल हो गया है ? और सुनता आया था कि यह तो तुम्हारे बेटेकी बहू है—और फिर यह बेटी कैसी.. ?"

मर्मका घाव उघड़कर सामने पड़ा था। मायाका आवरण अपने आप ही सरक गया। निमिषि मात्रमें चम्पाका चोला उतार कर सुन्दर प्रकट हो गई। ...फिर सुन्दरने अपने पतिकी मृत्युकी स यासे लगाकर, गई रात तक की सारी कथा कड़ी बद्ध खोल कर मेरे सामने रख दी। रत्ती भर भी उसने नहीं छिपाया, न कहने लायक बातें भी उसने खोल-खोलकर जलते अंगारसे शब्दों में मेरे आगे पटक दीं। जीवनके चढाव-उतारोंको जितने सम्पूर्ण ब्योरों और बारीकियोंमें उसने मेरे सामने रक्खा, वह देखकर मेरे आश्चर्यकी सीमा नहीं थी। अपने मनोभावोंको भी जिस सहज मार्मिकतासे उसने प्रकट किया—उसके आगे जगतका बड़ासे बड़ा कथा-शिल्पी हार मानेगा। उसकी भाषामें ही उसकी कहानी कह सकना मेरे बसकी बात नहीं थी, इसीसे शायद मुझे अपने शब्द-छल और कल्पनाका सहारा लेना पड़ा है।. वह बोलती जा रही थी और मेरे दीमागमें फिल्म-रिकॉर्डिगकी एक एकाग्र प्रक्रिया-सी चल रही थी। जीवनके इक्कीस वर्षोंकी एक तस्वीर जीती-बोलती हुई आँखोके सामनेसे निकल गई। आस-पासकी वस्तु-स्थितिका भान मुझे भूल गया था।

कथा समाप्त होने पर, मैं खिड़की में से आसमान ताक रहा था। और सुन्दर खामोश बैठी आँसू टपका रही थी—जिसका कि ख्याल भी मुझे बाद में आया।. .तभी कुछ आहट हुई। अचानक किसीने चिक उठाई। रतन थी! कमरेमे घुस आने पर ही उसकी नजर मुझ पर पड़ी थी, इसीसे देखकर चौंकी अवश्य, पर भाग न सकी। पहले तो सिर झुकाकर ठिठक रही। फिर झल्लाई सी ढुलक कर नीचे बैठ गई, माँ की ओट, दूसरी ओर मुह फेरे।

मैने निमिष मात्रमें ही देख लिया—कि मरणके अग्नि-स्नानसे निकले हुए उस सुन्दर मुखड़े का आकर्षण और भी अधिक अमोघ हो उठा था। उसी क्षण स्पष्ट अनुभव हुआ कि उसने मुझे आत्म-हारा बना डाला है। सुन्दर चुपचाप उठ कर वहाँसे चली गई। जाने कब तक एक अपराधी मौनमें हम दो अनजान व्यक्ति खोये रहे। भीतर जो हल चल और कशिश चल रही थी, उसका द्रष्टा मैं नहीं रह गया था। इतने बड़े अपराधका भागी होकर अन्तर-देवताके आगे, अपने द्रष्टा होनेके अभिमानको मैं क्यों कर रख सकता था ? अपनेको रखना ही जो मेरे बसकी बात नहीं थी।

बिना मुह फेरे ही वह मर्म-वेधी कण्ठ-स्वर सुनाई पड़ा—

" मार नहीं सकते थे, तो जिलानेकी क्यो ऐसी जल्दी हो पडी ? .. दो पैसेका जहर देकर मौत नहीं दे सके, तो यह जिलानेकी हिम्मत किस बिरतेपर की है ?"

इसका उत्तर तो शायद मेरे विधाताके पास भी नहीं था, जो मौत और ज़िन्दगीका मालिक है। मेरे भीतर चल रहे सारे सद् विकल्प इस प्रश्नके आगे निरुत्तर होकर शात हो गये थे। मैं माथा झुकाये शून्यवत् बैठा रह गया। और मेरे भीतरके शून्य को चीरते चैतन्य-सा स्वर आया —

"...जानती थी कि आजकी रात तुम आओगे। ...तुम्हें आना ही पड़ेगा। तुम क्या तुम्हारा देवता आता—तुम्हारी छाया आती। सो तुम आये ही। पर मौतको सामने पाकर थर-थरा उठे। शायद तुम्हे दया आ गई—सो चले अपना पुरषारथ दिखाने। किसीको जीवन देनेका पुरषारथ तुम्हारे पास नहीं है, तो किसीको मरतेसे बचानेकी दयामे कोई पुरुषारथं नहीं रक्खा है। यह तो सीधा और सच्चा स्वारथ है। सकट सिर पर आपड़े तो बचकर भाग निकलने की ऐसी अटकल धरमको छोड़ कर और कहाँ मिल सकती है ? तुम्हारे जितनी बुद्धिमान और ज्ञानी तो नहीं हूँ, पर जीवनके इस नरकने जितना सिखा दिया है, उससे अब और धोखा मै नहीं खा सकूँगी .. " वह वेधक स्वर कातर हो आया। वह रुक गई। मैंने मुँह उठा कर देखा—वह पल्लेसे आँखे पोछ रही थी।

" जाओ, मुझे नहीं चाहिये तुम्हारी यह दया और तुम्हारा यह

उपकार !.. बडे घरके बेटे हो न, ऊँची-ऊँची हवेलियोमें रहते हो और आसमानसे आँख मिलाते हो। इस झोंपडेकी सीढीमें पैर रखना तुम्हें कैसे शोभता? और फिर मैं ठहरी वेश्या की बेटी—वेश्या ! ..सघवियोके मोहन बापू और वेश्याकी देहली चढें? अनर्थ न हो जाता? चाहती तो तुम्हें भी पकड़ कर अपनी इस पापिन छाती पर कुचल सकती थी। तुम्हारे सारे पुरुषारथ और प्रतिष्ठाके अभिमानको छिन भरमे मिट्टीमे मिला सकती थी। पर इस सलौनेसे मुखडेको देखकर तरस आ गया। सोचा शायद झिझक रहे हो—चोर राहसे आकर तुम्हे पकड़ लूँ। पर यही यदि करना होता तो मेरे अगूठेके नीचे खेलनेवाले इन बीसियों भैय्या-साहबोमें और तुममें क्या अतर रह जाता ! तुम्हे प्यार जो किया था, इसीसे यह अभिमान तुम्हे लेकर मनमें था। मनमें जोर था और भरोसा था, कि एक दिन तुम आओगे ! आये बिना सरेगा नहीं। अब तक कौडियो पुरुषो ने मेरे आगे प्यार की आँखे पसारी हैं, हवेलियाँ झुकी हैं और महल झुके हैं—इन कदमोंमे, पर मैने किसीको प्यार नहीं किया—नहीं कर सकी। वह मेरी लाचारी थी। किसी सिघनी ने वह जाया नहीं जना, जिसका पुरुषारथ मेरे दिल को पकड़ पाता। हाँ, इस छातीके धोबी-घाट पर सभी अपने अपने सिर मारकर चले गये हैं। उनके खून भले ही निकला हो, पर इस छाती पर पड़ी सिल्लाएँ तो ज्योंकी त्यों बनी हैं। उनमे कहीं भी दरार नहीं पड सकी। ." रुक कर फिर उसने कण्ठ का परिष्कार किया। स्वर उसका तीव्रतर होता जा रहा था।

" और तुम आये तो यह छौना-सा मुखड़ा लेकर। अपने कटाक्षसे तुम्हे भी बीधना चाहा, पर तुम तो आँखसे आँख मिलानेकी हिम्मत भी न कर सके। शरमा कर धरतीमें गड़ते नजर आये और फिर डर कर भाग खडे हुए। ..मैं तुमसे हारी—! सारे कूट-कौशल भूल गई, और खोलकर मनकी चाह तुम्हारे सामने रख दी, तुम्हारी राहमे बिछा दी। पर उसे ठोकर मारने लायक भी नहीं समझा? तुम्हारी वे भोले हिरन सी आँखे मैने देखी हैं—तुम्हारे डर और झिझक को मै ताड़ गई। समझ गई कि कहाँ है तुम्हारी मुश्किल। पर चोर रास्ता तुम्हारे लिए नहीं था। वह साहुकारों

और शीलवन्तियों के लिये छोड़ रक्खा था। उस नरक की राह तुम्हें कैसे लाती, ओ मेरे मन-भावन मेहमान ! तुम्हें तो सदर रास्ते और सदर दरवाजे ही बुलाना चाहती थी।.. पर मेरे ऐसे भाग कहां ? समझ गई कि जानते बूझते जहर खा लिया है। पर क्या वस था, जिससे सरबस हारा उससे मान कैसा ? उससे मनका कौन भेद छिपा है, जिसे लेकर उससे छल खेल सकूँगी ? उसीका मान तो मेरा मान है। और उसी मानके बल तुम्हारी रानी बनकर तुम्हें हुक्म देनेकी ठानी—कि तुम्हे आना ही पड़ेगा। फैसला कर लिया था कि प्यार नहीं माँगूँगी, मौत ही माँगूँगी। अपने प्यारका कलंक तुम पर लाद कर तुम्हे दुनियाकी नजरमे गिरने नहीं दूँगी। तुम्हे भारमें नहीं डालूँगी। और मौत देनेसे इनकार कर सको, यह तुम्हारे बसकी बात नहीं रहने दूँगी। मुझे भरोसा था कि मेरे जहरके प्यालेको ढुलका देनेकी हिम्मत तुम नहीं कर सकोगे। पर हाय, मैं फिर हारी। प्याला तो पी ही चुकी थी—जब तुम आये। पर तुम्हारे उस घी के कटोरे को मैं ठेल न सकी। मैं तुम्हारे अधीन हो गई। पर अब बन्द करो यह खेल, ओ निठुर, और जाओ यहाँसे। जिला नहीं सकते—और मरने भी नहीं दोगे ? यह कोमल सा मुखड़ा—और ऐसा अत्याचार तुम कर रहे हो मुझ पर, जैसा आज तक कोई न कर सका ? जाओ,...जाओ यहाँसे !—मेरी आँखोंके सामनेसे हट जाओ—या फिर अपने पैरोंसे मुझे कुचल कर यहीं खतम कर दो ”

मेरे पैरोंके पास लाकर उसने अपना सिर पछाड़ दिया। मेरी तहें काँप उठी। मेरे सारे तर्क बह चुके थे। सारी मर्यादाये और हृदयके सारे मर्म बह चुके थे। किस बातका आधार लेकर मै उसे उत्तर देता। मै तो बस हत्यारा हो उठा था। युग युगकी पीड़िता नारीके मूर्तिमान अभियोग-से उस माथेको छू सकूँ, वह साहस और बल मुझमें नहीं था। मैने विनतीके स्वरमे कहा—

“माफ करो रतन, मुझसे भारी भूल हो गई पर तुम भी भूली हो मुझे समझनेमे। तुम शायद नहीं जानती कि मै मै .” और कहते-कहते मेरी जबान ठिठक गई।

सिर उठा कर वह एक अनोखे भ्रू-भंगके साथ व्यंग करती हुई हँसकर

बोली—

"जानती क्यों नहीं हूँ—यही न, कि बड़े घरके बेटे हो, खादी पहनते हो, बड़े बड़े लेक्चर देते हो और बापकी मान-मरजाद तोड़ कर राजा और राजके खिलाफ भी तुम लड़े हो। जमाने भरकी स्त्रियोंके उद्धार का भार भी तुम्हींने अपने कन्धों पर ले रक्खा है। इसीसे सोचा था कि तुम्हीं रतनके आँगनके मेहमान न हो सके तो और जमाने में कौन हो सकेगा? ..पर समझ रही हूँ तुम्हारी मुश्किल। बापसे अलग हो गये हो और हवेली छोड़कर चले आये हो तो क्या हुआ? आखिर तो हवेलियोंके उछले-पले हो न? वह बू तुम्हारे रोये-रोयेमे भिदी हुई है—तुम्हारा कसूर ही क्या है उसमे। यह तो मेरे ही भाग्य का दोष है, जो तुम्हे प्यार करनेकी भूल मुझसे हो गई। सब समझ रही हूँ, मोहन बापू, अब और तुम्हारा दिल नहीं दुखाऊँगी और न तुम्हारा समय ही खराब करूँगी। अब पधारो आप, बहुत देर हो गई है।"

अपनी राह निकालना मेरे लिये मुश्किल हो गया। आखिर हिम्मत करके मैंने पूछ ही तो लिया—

"अब जी कैसा है? अभी एक और दवा लेकर दोपहरको आऊँगा?"

"जी तो अच्छा ही है। अपने राजमें जैसे जिलाओगे, जीना ही पड़ेगा। फाँसी पर ही टाँग कर जिन्दा रखनेमे तुम्हें सुख होता है, तो मैं किस मुँहसे तुम्हें नट सकूँगी। पर इधर आने की तकलीफमें अब और न पड़ना। यह कलकिनी तो अपने पापका बोझ लेकर जाने कब कहाँ मर रहेगी। पर इस पत्थरकी नाव पर बैठा कर तुम्हे नहीं डूबने दूँगी। दुनिया तुम्हारी ओर उँगली उठा सके, उसके पहले मै ही डूब मरूँगी। आने जानेकी अडी नहीं है—बस कृपा बनाये रखना" कह कर पल्ला धरती पर बिछा कर उसने वारने लिये और सिर भूमिसे छुआ कर प्रणाम किया। फिर चुप-चाप उठ कर, बिना मेरे दृष्टि-दान की अपेक्षा किये, वह झुकी आँखों वहाँसे चली गई।

ख्याल आये बिना न रहा कि इन झुकी पलकों की मर्यादा पर कितनी न कुलवतियोंके लाज-शीलके गर्व निछावर किये जा सकते हैं। आँखों आगे फैले पड़े कितने ही अँधेरे-उजालोंमें उलझता-सुलझता मैं भारी हृदय लिये

घरकी राह लौट पड़ा।

*　　*　　*　　*

रतनका तोहमत-नामा मेरे सामने है, और मै सिर झुकाये खड़ा हूँ। अन्तरयामी ही उसका उत्तर दे सके तो दे, मेरे बसकी बात वह नहीं है। हाँ, इतना स्पष्ट अनुभव हो रहा है, कि अपनेको लेकर जो भ्रान्तियाँ मनमें रह गई थीं, वे सब आज निःशेष हो गई हैं। कोई बहाना नहीं रह गया है, जिसे लेकर कह सकूँ कि वह मुझे समझनेमे भूली है। पर अपने इस आरोपीको समझ पाना मेरे लिए उतना ही अधिक दुस्तर हो गया है। असीम पथ बनकर ही जो स्वयम् मेरी राहमें बिछ गया है, उसे समझनेका दम्भ कैसे करूँ, और उसके आगे मेरे किस पथ और आदर्शका दावा टिक सकेगा ?

पर सजा सुनकर मै स्तब्ध रह गया हूँ। वे झुकी आँखे 'सूलीकी सेज' का आमन्त्रण दे गई हैं। मीराबाईके देशमे जो भी यह रीत नई नहीं है, फिर भी सारी मर्यादाओको तोड़कर विद्रोहिनी मीराने जो चरम मर्यादाकी लकीर खींची थी, उसे दोहराया है आज इस रतनने ! देख कर मेरे आश्चर्यकी सीमा नही है। कुलकी मर्यादा मैंने तोड़ी है, पिताकी आज्ञा लॉघी है, धन सम्पदा और सत्ताके उत्तराधिकारको ठेल कर आगे बढ़ आया हूँ, राजा और राजाके खिलाफ भी मै लड़ा हूँ। पर विचारमें पड़ गया हूँ कि अपने किस विद्रोहके गर्वको लेकर इस मर्यादाकी लकीरको लाँघ सकूँगा ?

उस दिन बिदा होते समय हुक्म मिला था, कि उस राह जानेकी अब और इजाजत मुझे नही है। सोचता हूँ, बार-बार बुलानेपर भी जो नहीं गया था, उसीका ऐसा दारुण दण्ड दिया गया है। जो भी हो, मै उन्हें फाँसीपर टाँग सका या नही सो तो प्रभु जाने, पर यह सूलीकी सेजका राज-पाट जो उन्होंने दे दिया है, उसे भोगे बिना छुटकारा नहीं है।

सरकारकी फाँसी-सूलीको न्योतनेमें भी कभी हिचका नही था, पर इस सम्मोहनकी सेजका ताप झेलना मेरे लिये थोड़े ही दिनोंमें असह्य हो उठा। न सोये विराम था, न जागते चैन था। प्रतीक्षा लगाये था कि अब बुलावा

आता है, अब चिट्ठी आती है। दो एक बार जीमे आया कि मै खुद ही क्यो न लिखूं? दो एक चिट्ठियॉ लिखी भी और फिर फाड़ डाली गई। यही बात रह-रहकर जीमें कचोट उठती थी कि कौन सा मुँह लेकर और क्या लिखूँगा। अपनी ही असामर्थ्य और तुच्छता मुझे खाये जा रही थी। आज्ञा झेलनेके सिवाय जसे और कुछ भी चारा नही था। यो तीन-चार महीने निकल गये। सारी आशा और प्रतीक्षा व्यर्थ होती दीख पड़ी, मनके धीरजको थाम कर रखना कठिन हो गया।

कापुरुषता और दुर्बलता कहकर जीकी इस लौको बार-बार पैरो तले कुचल देना चाहा। निष्काम कर्म, आदर्श, मुक्ति, स्वराज्य, क्रान्ति जाने कितनी न ऐसी एसी तेजकी मूर्तियॉ ऑखोंके सामने खडी करके उनके चरणोमें अन्तरकी इस वेदनाको तुच्छ और मिथ्या कर देना चाहा। पर लगा कि अरे, उससे बाहर होकर ये तेज-मूर्तियॉ कही भी तो कुछ नही हैं। ये तो सारीकी सारी जैसे उसी लौमे विसर्जित होकर मुक्ति पा गई हैं। स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि जिस सार्वभौम कल्याणके लिये सारी माया-ममतासे सन्यास लेकर घरसे निकल पडा हूॅं, उसका रास्ता मनुष्यके हृदयकी इसी पुकारके भीतर होकर गया है। इसे ठेलकर, बाहर बाहरकी हल-चलोंके इस आडम्बरमे कहीं भी कल्याण और सिद्धि मिलनेवाली नहीं है। इस अवरोधको भेदकर ही प्रगतिकी राह खुलेगी। यह ममताका बन्धन नही, मुक्तिका मरण-त्योहार है।..एकाएक ऑखोमें झलक जाता, कि इन सारे जन-आन्दोलनोके अन्ध समुद्रो पर, वह रतन है जो सबसे आगे मशाल लेकर चल रही है!

आजसे नौ बरस पहले, युनिवर्सिटीके दिनोंमें, छुट्टियॉ होनेपर अलाहाबादसे घर लौट रहा था। छत्तीस घटोंकी उस यात्रामें एक अनजान प्रवासिनी लड़की निरे ऑखोके मौन-मौन खेलसे जो विप्लव हृदयमें जगा गई थी—और बिदाके समय केवल एक वाक्य कह गई थी, उस आगके ऊपर होकर फिर जीवनमें और कोई भी पार्थिव सचाई नही ठहर सकी। महज राजद्रोह करनेके लिये ही मै घरसे नही निकाला गया था, एक करोड़पति मिल मालिककी बेटीसे

पिताजीने जो मेरा वाग्दान कर दिया था, उसे तोड़नेका अपराध भी मुझसे हुआ था। उसी दिन प्रेम-प्रणय, विवाह और स्त्री पर मैने इतिके अक्षर लिखकर, जनता-जनार्दनके हाथों आत्म-समर्पण कर दिया था। आज समझमें आ रहा है कि वह भी एक दुर्बलता और प्रतिक्रियाके अतिरिक्त और कुछ नहीं था। अह-ग्रस्त तरुणाईके दुर्बल द्रोहके सिवा और कौन सा नाम उसे दिया जा सकता है ? आज इस कसौटी पर आकर वह सारा पुजीभूत अहकार चूर-चूर होकर बिखर गया है। उस प्रवासिनी लड़की और रतनके बीचका द्वैत आज अनायास निरर्थक हो गया है। पुकार ठीक ध्रुव केन्द्रसे आ रही है मै कैसे अपनेको रोक सकूँगा ?

सोचा कि बुलावे और चिट्ठीकी राह जो देख रहा हूँ, वह भी क्या मनका अभिमान ही नही है। परीक्षा करूँगा मै ? और वह भी अपने इस तुच्छ अहकारकी कसौटीपर, जिसे उसने अपने प्यारकी तनिकसी कोमल ठोकरसे तोड़ दिया है ? अपनी स्थिति पर लज्जा, आई और दया भी आ गई। कठोर मर्यादाकी रेख खीचकर, बाहर बाहरकी राह उसने बन्द कर दी है। चुनौती है कि—देखूँ, कैसे आते हो ? और शासन भी है कि—नही, यहाँ आनेकी तुम्हे इजाजत नहीं है। मनकी उलझन और वेदनाका पार नहीं है—कैसे इस पहेलीको सुलझाऊँ !

अच्छी बात है, नही जाऊँगा ! पर एक बार उस सूरतको अनजाने और दूरसे ही जीभर निहार लेना चाहता हूँ। इस बातका निषेध तो उस आज्ञामें नही था। उस बीरान नोहरेके पिछले दरवाजेका मुझे ख्याल आ गया, सई शाम ही मैं घरसे निकल पड़ा।

नोहरेकी उस पुरातन इमलीके विशाल तनेकी ओट खड़े, मैने दो-तीन घण्टे गुजार दिये। उस गमलों वाली खिड़कीमें केवल लालटेनका मद्दिम प्रकाश मूरत-सा खड़ा था। उसमें कोई छाया तक नहीं झाँकी, कोई हल-चल भी नहीं हुई। अँधियारा पक्ष था और जाड़ोंकी रात थी। गलीमें निर्जनता व्याप गई थी। बड़ी-बड़ी देरमें कोई एकाध राहगीर वहाँसे निकल जाता। बाकी फिर भयानक सुन-सान और सन्नाटा छा जाता। पर खिड़कीका वह पीला

प्रकाश वैसा ही निस्पन्द खड़ा था।

अचानक वह छायाकृति खिड़की पर प्रकट हुई। पहचाननेमें देर न लगी। पर इस अँधेरी रहस्य-मूर्तिको देख कर तो जी की कलक और भी दुस्सह हो उठी। कुछ ही देरमें वह वहाँसे हटी, और सीढ़ीकी ओर बढ़ी। अगले ही मिनट नोहरेकी दीवारके झक्कालेमेसे दीखा—वह गलीमें उस ओर आगे बढ़ रही है। चुपके-चुपके दीवारके सहारे मैं भी बढ़ता चला। उस सिरेकी कोठरीके मानव-प्रेतके द्वारपर जाकर वह रुकी। उसे देख वह मनुष्य हँस पड़ा। वह उसके माथे पर हाथ रखकर उस अँधेरी कोठरीमे प्रवेश कर गई। अगले ही क्षण एकाएक उजाला हुआ, हाँ, उसने कोठरीके कोनेका दिया उजाला दिया था। फिर उसने द्वारके सामनेके कोनेको झाड़ा। उसके बाद ऊपर अलगनी पर लटके बिछौनोंको उतारकर वहाँ बिछा दिया। फिर देहलीमे आकर दोनों हाथों से बड़े आहिस्तासे उस हड्डियोंके ढेरको उठाकर बिछौनेमे बैठा दिया। दियेके मंदे उजालेमे उन मोहन-मदिरासे भरी गोरी बाहोंमें थमी वह कुरूप प्रेत मूर्ति मुझे स्पष्ट दिखाई पड़ी।

मैंने देखा आँचलमेंसे निकालकर उसने एक पोटली खोली—और अपने हाथसे वह उसे रोटी खिलाने लगी। बीच-बीचमे उस चिर रोगिष्ठ मनुष्य के चेहरेसे बहते किसी फोड़े अथवा श्लेष्मको वह एक दूसरे हाथके कपड़ेसे पोंछती जाती थी। खिला-पिलाकर उसने उसे पानी पिला दिया—और स्वयम् हाथ धोकर फिर पास आ बैठी। अपने हाथसे उसके हाथ-पैरोंको धीरे-धीरे सीधा किया और बड़े जतनसे उसे लिटा दिया। फिर अपना आँचल खोलकर उसके पल्लेसे उसके शरीरके बहते घाँवोंके रुधिर पीपको बड़ी सावधानी और निर्वेद ममतासे पोंछने लगी। वह होजानेपर उसने अपनी चोलीमेंसे निकाल कर एक डिबिया खोली, और उँगली पर लेकर थोड़ा-थोड़ा मरहम घाँवों पर लगाने लगी। बीच-बीचमें वह मनुष्य वेदनासे कराह उठता। वह उसके मुँह पर हाथ फेरकर उसे पुचकार देती। काम-काजसे निबट कर वह खुले आँचल ही बैठी रह गई। मोहसे उमड़ता वह उद्भिन्न वक्ष दियेके उजाले में साफ दिखाई पड़ रहा था। उस कंकालने ललक भरी आँखोंसे उस रमणी

की ओर देखा। उसका हड्डीला कुरूप पजर-सा हाथ---उस सुडौल, रसोर्मिल वक्ष की ओर बढ आया। वह रमणी अपने बावजूद विनम्र, विनत हुई जा रही थी। वे मास-हीन, विकल उँगलियाँ उस उदार स्तन मडल पर थर-थराती-सी दीखी। वह मानव-प्रेत एक कातर किलकारी सी कर उठा। बच्चा जैसे माँसे दूध माँग उठा है! वह रमणी बिछौनेमें सरक आई—और पास ही लेटकर उस क्षीण कायाको उसने अपने आलिगनमें दुबका लिया। रह-रहकर वह मनुष्य किसी विचित्र जतुकी भाँति आल्हाद और रुदनकी किलकारी कर उठता। और वह रमणी अपनी कमनीय, चम्पक बाहोंमे उसे सहला रही थी, उसके रोगोंसे झरते मुख और अग-प्रत्यगोको जब तब वह विव्हल होकर चूम ले रही थी। अन्तमें उसने उसे ठीकसे लिटाकर चादर ओढा दिया और सिरहाने बैठकर उसका माथा सहलाने लगी। उसे नीद आई जानकर—वह चुपचाप उठकर वहाँसे चली।

गलीमे होकर वह गुजर रही थी। नोहरेकी दीवारके उस ओर कोई आहट पाकर वह चौकी—और जरा ठिठक गई। उसने उचक कर देखा। दीवार एक पुरुषसे कम ही ऊँची थी। मै उठकर खड़ा हो गया।

"कोई नही, मै हूँ रतन!"

"बापू! इस घडी आप यहाँ?"

"हाँ, उस आगेके भक्कालेसे इधर आजाओ, फिर जो चाहो पूछ लेना।"

वह अन्दर आ गई, और हम दोनों मन ही मन समझ कर चुपचाप उस इमलीके पासवाले खण्डहरमे चले गये। एक टूटी दीवार पर रतनको बैठनेका संकेत कर सामनेके ढूहपर मै भी बैठ गया।

"यह सब क्या चल रहा है, रतन?"

"देख ही जब चुके हो, तो पूछने को क्या बाकी रह गया है?"

"कुछ नही समझ में आरहा है, रतन? तुम ऐसी सुन्दर... और इतनी भयानक हो ... इतनी . ?"

उस अँधेरे में भी उन ओठोंकी वह अपूर्व रहस्यभरी मुस्कराहट और वे आर-पार देखतीसी आँखें मै साफ देख सका।

"बोलो न " मेरा गला काँप आया। पर उधरमे कोई उत्तर नहीं आया। वह दृष्टि और वह मुस्कराहट वैसी ही अचल थमी मुझे बाँध रही थी।

"कल्पना भी नहीं की थी कि ऐसी भयानक सजा दोगी, तुम। ऐसी ठण्डी मौत मांगोगी। जन्मान्तरोंके लिये सूलीपर टांग दिया है तुमने मुझे ."

"ऐसा छोटा दिल कर लिया, मोहन बापू? तुम तो सरबस त्याग कर सेवा करने निकले हो—और आदमीकी जातिके नेता हो। इस ककालसे, और तुम ईर्ष्या कर बैठे ?"

बुद्धि और हृदय पर युग-युगो के बधे संस्कारोंके जाल क्षण मात्रमे छिन्न-विच्छिन्न हो गये। नीचा मुँह किये मै अपने ही अन्दरकी उघड़ती तहोंमें उलझ गया। निपट अबोध बालककी तरह अपनी ही वेदनासे तड़प कर बोला—

"सेवा करनेके लिये आत्म-घात करना जरूरी नहीं है, रतन! खुद जिन्दा रहकर ही, दूसरेको जिलानेका उपाय किया जासकता है। अपना बचाव करना तो पाप नहीं है। उसके रक्त पीपको चूमनेसे ही कोई ज्यादा सेवा नहीं हो जाती। ये तो सब खुद-कशीके उपाय चल रहे हैं। क्या मैंने देखा नहीं है. ?"

"सेवाकी बात तो आप जाने मोहन बापू! वह मेरी छोटी बुद्धिकी समझमे नहीं आती। आप समरथ हैं—और ज्ञानी हैं, आप ही वह कर सकते हैं। मेरी वैसी शक्ति कहाँ? पर उसे प्यार जरूर किया है। मेरे प्यारको ससारमें कहीं भी शरण नही मिली, यहीं आकर मिली है। और [illegible] र जिसे किया है, उससे बचानेको क्या रह जाता है .."

'क्या कह रही हो, रतन? इतना हीन, और नालायक समझ रही हो मुझे! एक शवसे भी ज्यादा निर्जीव और घृणित हो गया हूँ मै तुम्हारी नजरोंमें ?"

"भूल रहे हो बापू—! फिर कहती हूँ, यों जीको छोटा न करो। तुम पर कोई क्रोध नही है मनमें—और न कोई शिकायत ही है। और यही क्यों समझ रहे हो—कि उसे प्यार कर तुम्हे कुछ कम प्यारकर रही हूँ? उस बेचारे पर भी तुम्हें रोष आगया—इसलिये कि अब तक उसपर दया ही करते आये

हो न! उसे प्यारकर सकते तो यह बात तुम्हारे मुँहसे न निकलती। और शव तो वह नहीं है—अभी तो वह जी रहा है। उसके भी तुम्हारे और मेरे जैसा ही दिल है—और इच्छाएँ हैं। देखा नहीं है अपनी आँखोसे, कि वह भी कैसा ललककर यह छाती माँग लेता है? तुम्हीं बताओ बापू, उसे कैसे इनकार कर सकती हूँ।—कैसे उस तरस भरे हृदयको ठेल सकती हूँ। ..." उसका कण्ठ-स्वर जाने कैसी अन्तर की सर्व-व्यापिनी ममतासे भर आया। कुछ रहकर फिर बोली—

" और बापू, मेरी इस कायाकी ऐसी चिन्ता हो आई तुम्हे! क्या तुम्हारा सारा प्यार इसीपर अटका है? और मैं ही कभी ऐसी हो जाऊँ, और तुम्हारा आलिगन चाहूँ—तो तुम क्या करोगे? क्या शव समझकर ठेल जाओगे, या फिर दया करकेदूर-दूरसे सेवा करोगे? ' कितने भरे पेटके भेड़ियोंने इस माग पिण्डको नहीं खाया है, बापू! कितने जहरीले दाँत इस देहमें नहीं गड़े हैं? फिर भी तो यह काया वैसी ही बनी है।—कुछ भी तो नहीं बिगड़ा है इसका। और इसीसे अभी भी सैकड़ों भूखी आँखे इस पर लगी हुई हैं। फिर उस दीन-दुरबल पशूने ही कौनसा कसूर किया है—जो उसे अपने पास न आने दूँ। उसे तो सबसे ज्यादा जरूरत है मेरी। उसका कोई सगा नहीं, कुटुम्ब नहीं, समाज नहीं, धरम नहीं, अरे भगवान तक उसका नहीं है! आदमियोसे भरी इस सुखकी दुनियामें, वह निपट अकेला है। दो टूक प्यारके बोल तक देनेवाला उसे कोई नहीं। अरे, कोई आँख उठाकर भी उसकी ओर देखना नहीं चाहेगा। जुग जुगका भूखा और प्यासा है वह। सुखकी सेजोमे लोटनेवाले यही कह कर सन्तोष करलेते हैं—'अपने किये वह भोग रहा है, इसमे किसी का क्या बस है?' पर बापू, इन्हीं धरमके ठेकेदारोके पुण्य-भोगमेसे जनमी हूँ मैं पापिन, इसीसे ऐसा कहकर मुझे सन्तोष नहीं हो सका " फिर उसका गला एक गहरे त्रासमे भर आया। और भी वेधक कण्ठसे बोली—

"खूब ही समझ लिया है, कि इस काया की भी तो एक दिन यही दुर्गत होनी है। अपने पैरोके कीचड़से मुझे पैदा करके, जिन्होंने मुझे जीभर गले लगाया है, उन्हीं की ठोकरोमे किसी दिन इस कायाका शव जा पड़ेगा।

और तब वे दूसरी ओर मुँह फेर कर थूँक देंगे—हरे राम, कहकर वे भगवानसे अपने मगलकी जाचना करगे।..."

"अब नहीं सहा जाता रतन, बहुत हो लिया। तुम्हारी वेदनाको न समझ सकूँ, इतना जड़ नहीं हो गया हूँ।. धरती परसे इस मिथ्याको मिटानेके लिये अपने प्राणकी आखरी बूँद तक चुका दूँगा। इस जन्ममे न मिटा सका, तो जन्मान्तरों तक इस असत्यके खिलाफ लड़ूँगा—और इस युग युगोंके पापका उन्मूलन करूँगा। पर रानी, अब मुझे जीने दो, अब मेरी राह खोलो, रतन। मेरा प्राण आज तुम्हारी मुट्ठीमें है, ऐसी निष्ठुर न बनो। सारी मनुष्यताका बदला क्या मुझीसे लोगी, और क्या इसी दिनके लिए तुमने प्यार किया था मुझे? अगर नहीं—तो चलो मेरे साथ—या फिर मुझे ही अपने साथ लेती चलो। अब और कोई फैसला तुम्हे नहीं करने दूँगा ?"

और उसका एक हाथ पकड़ कर मैंने उसे अपने पास खीचना चाहा। वह अपनी जगहसे जरा भी नहीं टली। वहींसे मेरे पकड़े हाथ को अपने दोनों हाथोमे ले लिया और माथा झुका कर उसे लिलारसे दुलरा दिया। फिर बिनतीके स्वरमें बोली—

"नादानी मत करो मेरे देवता! यह कोई हँसी-खेल नही है। अपने सिंघासन पर ही तुम मुझे भले लगते हो, तुम्हें वहाँसे नीचे नहीं उतारूँगी। तुम्हारे प्यारको तुच्छ समझूँगी, और तुम पर मनमें रोष लाऊँगी तो फिर जीनेमें सार ही कौनसा रह जायगा? तुम्हें पाकर इस जीवित नरकसे उबर गई हूँ, इसीसे तो अपने प्यार को उस ठट्ठरके भीतर काँपते हस तक पहुँचा सकी हूँ। अपने को जाँचना चाहती हूँ, कि तुम्हारी सलौनी सूरतका मोह मुझे कहीं धोखा तो नही दे रहा है? इस काया पर अब मुझे रच भी भरोसा नही रहा। सो इसे लेकर अब तुम्हारे साथ कोई छल नहीं खेलूँगी। इसकी मोहिनी को मैं जानती हूँ न, इसीसे बार बार जी मे यही डर उठता रहा है कि इसकी धारसे कहीं तुम्हें घायल न कर बैठूं। इसीसे उस दिन हिये पर पत्थर रखकर, अपने घरका द्वार तुम्हारे लिये सदाको बद कर, तुम्हे लौटा दिया था। और इसीलिए फिर कभी बुलानेकी हिम्मत भी नहीं की। सोच लिया कि हिरदेमे जो बसा है, उसको क्या बुलाना और क्या लौटाना। वह

क्या मेरे काबू की बात है ! जहाँ भी तुम रहोगे, तुम्हारा सिंघासन इसी हिरदे पर बिछेगा, यही क्या कम गरब और सुखकी बात है मेरे लिये ? शपथ खाओ—" कहते हुए मेरा हाथ अपने गले पर रख लिया और बोली—

"कि इस शरीरके मोह और चिन्तामें तुम नहीं पड़ोगे। जुग-जुग का विष भरा है मेरी इस हत्यारी काया में, ओ मेरे देवता ! तुम्हे इसके मोहका मरण नहीं दूँगी, हो सके तो तुम्हीं अपने प्यारके अमृतसे मुझे सदाके लिये जिला देना। आशीर्वाद दो, कि इस जनममें तन-मनसे तुम्हारी होने लायक न हो सकी तो अगले जनम में जरूर मैं समूची तुम्हारी हो सकूँ"

कह कर दोनों हाथ जोड़ मेरे पैरोंमे वह सिर डालने को बढी, कि मैंने वह माथा अपनी हथेलियोंमें थाम लिया।

"रतन...मैं बहुत अकेला पड़ गया हूँ, इस जगतमें मेरा कोई नहीं है। ...मुझे—मुझे शरण नहीं दोगी ?"

"पागलपन मत करो, मोहन बापू, रात बहुत चली गई है, घर जाओ। और कोई डर मत रखना मनमे,—उसका सारा रक्त पीप पीकर भी मैं मर नहीं जाऊँगी। तुमने जिसे जिला दिया है, उसे कौन सा जहर मार सकेगा ? अच्छा अब देर मत करो, तन पर पूरे कपड़े भी पहन कर नहीं आये हो—सरदी बढ रही है...।"

मैंने उसका सिर अपनी हथेलियोंमें से छोड़ दिया। तुरन्त झुक कर उसने माथा मेरे पैरोंमे छुआ दिया —और दृढ़तासे उन्हें भुजाओंमें बाँधकर कस लिया। उन पलक रोओं का ऊष्म गीलापन मैंने अनुभव किया, और वह चुप-चाप उठ कर धीरे-धीरे वहाँसे चली गई।

लौटते हुए मैंने अनुभव किया, मानो मेरा हर अगला कदम एक नयी ही पृथ्वी पर पड रहा है, मेरी आँखोंमें मनुष्य की एक सर्वथा नवीन सृष्टि जन्म ले रही है। मैने पाया कि मै अकेला नहीं हूँ, यह समूचा जगत ही जो मेरे भीतर समाया है ...।

× × ×

अगले सवेरे उठकर अनुभव किया कि कुछ और का और ही हो गया

हूँ। सोचने और विश्लेषण करनेकी वृत्ति आज शांत हो गयी है। अपने को और जगत को लेकर जो द्वन्द्व मनमे था, वह आज जैसे एकाएक निरर्थक हो पड़ा है। भीतर विश्व-प्राणका द्वार खुल पड़ा है और समूचा आत्म मानो अविकल्प रूपसे उसी प्रवाह की ओर खिचा जा रहा है। निःसीम जन-सागर की विप्लवी तरंगों पर खड़ी वह कौन ज्योतिर् कन्या मुझे पुकार रही है! उसके बायें हाथमे विष-कुम्भ है, और दाये हाथके कलशसे अमृतकी धारा बरस रही है। उसके पैरोमे सत्यानाश की ज्वालाएँ खेल रही हैं—और उसके वक्ष पर प्यारकी अखण्ड जोत जल रही है। रुक कर सोचनेको कुछ भी नहीं रह गया है, मुझे तो केवल उसके इशारे पर चले चलना है .

.आज फिर रातकी निस्तब्धतामें मै उसी दीवारके भक्कालेके पास खड़ा हूँ। वह मानव प्रेत आज अपने द्वारमे नहीं बैठा है। बिछौनेमें पड़ा वह रह-रह कर कराह उठता है। ठीक समयपर वह छायाकृति वैसी ही आई और भीतर जाकर उसने वह कोनेका दिया उजाल दिया। फिर वह उस मनुष्यके पास, उसके बिछौनेमें ही आ बैठी। धीरेसे उठा कर उसका सिर उसने अपनी गोदमे ले लिया और बड़े दुलारसे उसके मुँहको पुचकारने लगी। स्नेह-कातर कण्ठ-स्वर सुनाई पड़ा—

"रामू, जी कैसा है? क्या बहुत पीड़ा हो रही है?"

"आह ...आह " करके उस मनुष्यने अपना मुँह उस गोदमें और भी गहरा दुबका लिया। जैसे वह उस स्त्रीके पेटमें समा जाना चाहता है। कुछ क्षण एक विकल खामोशी व्याप्त हो रही। फिर वह कराहता हुआ चिहुक उठा—

"माँ .. ओ माँ . "

उस स्त्रीने आँचल हटा दिया। आज वह वक्ष-मण्डल निरावरण था। उफनता-सा श्वेत अमृत ही जैसे उन गोरे स्तनोमें फूट पड़ा हो। उस निर्जीव कंकालका प्राण मानों ऊपरकी ओर उठ चला। बुझनेसे पहले दीयेकी जोत अपने पूरे उजालेसे चमक उठी। अपने बावजूद उसने उठ कर अपना माथा उस छातीमें डुबा दिया और उसे वहाँ बड़ी विह्वलतासे दबाता

हुआ पुकार उठा—

" मुझे लेलो न मुझे समूचा लेलो न बहुत पीड़ा हो रही है . मुझे लेलो रतन...अब मुझे छोड़ कर कहीं मत जाना, हाय अब नहीं सहा जाता "

उस स्त्रीने अपनी एक बाँहमें उसे पूरा समेट कर और भी गाढतामे अपनी छातीमें चाँप लिया और गहरे वात्सल्यके स्वरमे बोली—

"आओ रामू ..आओ.. अब तुम्हें कहीं नहीं छोड़ूँगी आओ मेरे पास..."

और अपने दूसरे हाथसे उसका समूचा गला पकड़ कर उसकी कण्ठ-मणिको उसने कुचल दिया।

"...माँ ओ . "एक अशेष वेदनाकी चीत्कार रातकी निस्तब्धता को चीरती हुई अन्तरिक्षमें लीन हो गई।

वह छायाकृति अत्यन्त शान्त भावसे वहाँसे लौट रही थी। मानो कहीं कुछ हुआ ही नहीं है। अडिग कदम वह यों चली जा रही थी, जैसे कालकी छाती पर पैर धरती हुई चल रही हो।

चालमें कुछ हलचल हुई, कुछ जन-रव हुआ। इधर-उधरसे मन्दी लालटेने लिये कुछ लोग दनादन वहाँ आ पहुँचे। लाशको देख-भाल कर एकने कहा—"जरूर किसीने इसे मार डाला है। अभी एक औरत यहाँसे निकल कर जाती दीखी है।"

"गलेमें नाखून गड़ा है, देखो न, वहीसे खून भी निकल रहा है। जान पड़ता है किसीने गला घोंट दिया है" दूसरेने लालटेन पास लाकर उँगलीसे दिखाते हुए कहा।

"भला ही हुआ जो मर गया, वह तो जीता ही मरेके बराबर था। योंही बरसोंसे दुख पा रहा था बिचारा" तीसरेने कहा।

"पर इस मरेको मार कर किसीने क्या पाया होगा ?"

इतने ही में चालमें रहनेवाले वे दो-तीन पुलिस कॉन्स्टेबल आ पहुँचे।

बैठे ठाले उन्हें एक आरामकी फर्ज-अदायगी मिल गई। उन्होंने आँखें तरेर कर लोगोंको दबाया घुड़काया, धमकियाँ दीं। और आखिर दो-चार आदमियोंको जबरदस्ती घेर कर पुलिस-थानेकी ओर चले। थोड़ी देरमें वहाँ सब शान्त हो गया।

*   *   *

सबेरे घूम कर लौट रहा था। रास्तेमें देखा कि कंचन-बाग पुलिस-चौकीके आस पास कुछ हल चल है—और कुछ हलकी-सी भीड़ भी जमा है। थानेके आँगनवाले बागीचेमे एक बड़ी मेजके आस-पास कुर्सियों पर दो-तीन पुलिस इन्स्पेक्टर बैठे हैं। अगल-बगल कुछ कॉन्स्टेबल खड़े है। सामने कुछ दूर जमीन पर एक नर-पंजरका काला, घिनौना शव पड़ा है। उस पर मक्खियाँ भिन-भिना रही हैं। कुछ ऐसा जान पड़ता है कि जैसे चाह कर ही पुलिसने यह प्रदर्शन कर रक्खा है। एक ओर दो-तीन मजूर-हम्मालसे लगते आदमी हाथ बाँधे खड़े हैं। तहकीकात चल रही है। उन आदमियोंके बयान लिये जा रहे हैं। वह बूढ़ा हम्माल कह रहा था—

"हाँ, औरतको निकलते तो जरूर देखा था हजूर, पर मारते तो किसीको नही देखा। व तो जीना ही मरेके बराबर था—उसका क्या जीना और क्या मरना। मर कर वो तो उलटा दुखसे छूट गया है।.."

भौहें तरेर कर सूबेदार कड़क उठे—"देखोजी जितना पूछा जाय उसका सीधा सीधा जवाब दो। तुम्हारी रायकी हमें जरूरत नहीं है। वह कैसे जी रहा था या नहीं जी रहा था—यह देखनेका काम पुलिसका नहीं है। सवाल ये है कि वोह एक लावारिस आदमी था—और यह साफ है कि उसे रातमें किसीने गला घोंट कर मार डाला है। मरहूमकी लाश देखकर यह बात जाहिर है। बहर-कैफ पुलिसका फ़र्ज हो जाता है कि वह मरहूमके हत्यारेका पता लगाये। अखीर-अखीर तुम्ही तीनों शख्श वहाँ पाये गये—सही-सही बताओ माजरा क्या है। औरत वहाँसे गुजरी थी तो तुमने पकड़ा क्यों नहीं—और वह गई तो कहाँ गई? क्यों न मान लिया जाय कि तुम उसमे शरीक थे। सच-सच बयान करो—वरना तुम्हें चालान किया जायगा..."

सूबेदार फिर तेवर बदल कर कड़क उठा।

वे तीनों गरीब काँपते थरथराते हुए एक दूसरेका मुँह ताकने लगे। उनके गलेका थूँक सूख गया, और आवाज निकलनी मुश्किल हो गई। डरके मारे वे रोआये—और बमुश्किल गिड़गिड़ाकर बोले—

"नही हजूर.. सच कहते हैं—हमको कुछ नही मालूम...भगवान् जानते हैं .."

" ..बड़े आये भगवान्के बच्चे—बदमाश कहींके। उस मुर्देके माल पर नीयत बिगड़ी होगी पाजियोंकी। तभी न उसके गुदड़े उलट रहे थे .."

"हजूर, वह तो लाशको ओढ़ानेके लिये कपड़ा ढूँढ रहे थे "

"हाँ हाँ बड़े अजीज थे तुम उसके—सूअरके बच्चे कहींके। हरनामसिंग, इन तीनोको हथ-कडी डाल कर हवालातमें डालो और चालान पेश करो. "

ठीक तभी सड़ककी भीड़में से निकल कर एक स्त्री तेज चालसे आती दिखाई पड़ी। घने घुँघराले बाल दोनों कन्धों पर छाते हुए उसके शरीरके चारों ओर लहरा रहे थे। कुन्दनसा दमकता चेहरा—और मुस्कराती हुई वह चली आ रही थी। केवल एक सादी सफेद साड़ी वह पहने थी। जरा और पास आने पर मैं पहचान सका, रतन थी! वहाँसे हट कर एक ओर होना ही चाहता था कि—दृष्टियाँ टकरा गईं। उन आँखों से स्फुलिंग बरस रहे थे—और उसकी वह मुस्कराहट और भी फैल गई थी। एकाएक मानो बिजली गिरी—

"सूबेदार साहब, मै हूँ आपकी मुजरिम—मैंने मारा है इस आदमीको! हरनामसिंग, हथकड़ी मेरे हाथमें डालो—छोड़ दो उन आदमियोंको "

दोनो हाथ फैला कर भ्रू भंग करते हुए रतनने मानो हुक्म दिया।

"तुम्हारा मतलब ?" भौंचक्का-सा सूबेदार पूछता रह गया। तीनों इन्स्पेक्टर हैरतभरी नजरोंसे उस खूबसूरत बलाको ताकते रह गये।

"मतलब वही जो आप चाहते हैं" तपाक से उत्तर आया।

"तुमने मारा है इस आदमीको गला घोंट कर ?"

"जी हाँ, मैने ही मारा है

"क्यों मारा है, तुमने इसे ?"

"क्योंकि मै इसे प्यार करती थी !"

"क्या मतलब ?"

"मतलब यही कि मै इस पर दया नहीं करती थी। म इसे प्यार करती थी —और इसीसे मुझे हक था कि मै इसे मार भी सकू। कल रात इसन प्यार माँगा—और मैने इसे गला घोट कर मार डाला !"

"क्या मतलब ?"

"मतलब आपकी समझमें कभी नहीं आयेगा, सूबेदार साहब! आप अपना काम कीजिये। हरनामसिंग, हथकड़ी डालो—देर हो रही है !"

और एक भरपूर नजर मेरी ओर डालती हुइ, रतन जोरसे खिलखिला कर हँस पड़ी।

चारों ओर लोगोंमें सन्नाटा खिच गया था। सूबेदार और वे दोनो इन्स्पेक्टर नगरकी इस जानी-मानी जोग-मायाको इस रूपमे देख कर बड़ी परेशानीमें पड़ गये थे। वे सोचमें पड़े थे कि इस खतरनाक मुजरिमके साथ वे कैसे पेश आये और क्या सलूक करे ?

अनन्तवाड़ी बम्बई,
२७ फरवरी, १९४७